दशम अध्याय

———

भा० दि० जैन संघ पुस्तकमालाका सातवाँ पुष्प

तत्त्वार्थ-सूत्र

[हिन्दी अर्थ, विशेषार्थ, प्रस्तावना और पारिभाषिक शब्द कोष सहित]

सम्पादक

'जैनधर्म' के लेखक

श्री पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री

प्रधानाध्यापक श्री स्याद्वाद महाविद्यालय काशी

प्रकाशक

भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ

अब ग्रन्थकार मोक्षका उपाय बतलाते हैं—

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ १ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिले हुए मोक्षका मार्ग हैं।

विशेषार्थ—इस सूत्रका पहला शब्द 'सम्यक्' का अर्थ है-प्रशंसा। यह शब्द प्रत्येकके साथ लगाना चाहिये। यानी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। किन्तु ये तीनों अलग अलग मोक्षके मार्ग नहीं हैं, बल्कि तीनोंका मेल ही मोक्षका मार्ग है। इसीसे सूत्रमें एकवाची 'मार्गः' शब्द रखा है।

पदार्थोंके सच्चे स्वरूपके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं; पदार्थोंके सच्चे स्वरूपके जाननेको सम्यग्ज्ञान कहते हैं और जिन कामोंके करनेसे कर्मबन्ध होता है उन कामोंके न करनेको सम्यक्-चारित्र कहते हैं।

शङ्का—सूत्रमें ज्ञानको पहले रखना चाहिए; क्योंकि ज्ञान-पूर्वक ही पदार्थोंका श्रद्धान होता है। तथा दर्शनसे ज्ञानमें थोड़े अक्षर हैं। इस लिए भी अल्प अक्षरवाले ज्ञानको दर्शनसे पहले कहना चाहिये।

समाधान—जैसे मेघ-पटलके हटते ही सूर्यका प्रताप और प्रकाश दोनों एक साथ प्रकट होते हैं वैसे ही दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षयसे जिस समय आत्मामें सम्यग्दर्शन प्रकट होता है उसी समय आत्माके कुमति और कुश्रुत ज्ञान मिटकर मतिज्ञान और श्रुतज्ञान रूप होते हैं। अतः सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें काल भेद नहीं है, दोनों एक साथ होते हैं। तथा यद्यपि ज्ञान अल्प अक्षरवाला है किन्तु अल्प

प्रकाशक—
मंत्री, साहित्य विभाग
भा० दि० जैनसंघ
चौरासी, मथुरा

प्रथम वार
फाल्गुन, २४७७
मूल्य दो रुपया आठ आना

मुद्रक—
जयनाथ शर्मा, व्यवस्थापक,
काशी विद्यापीठ मुद्रणालय,
बनारस छावनी

द्रव्य और भावके द्वारा निक्षेप होता है। जिस पदार्थमें जो गुण नहीं है, लोक व्यवहार चलानेके लिए अपनी इच्छासे उसको उस नामसे कहना नाम निक्षेप है। जैसे माता पिताने अपने पुत्रका नाम इन्द्र रख दिया किन्तु उसमें इन्द्रका कोई गुण नहीं पाया जाता। अतः वह पुत्र नाम मात्रसे इन्द्र है, वास्तवमें इन्द्र नहीं है। लकड़ी, पत्थर, मिट्टीके चित्रोंमें तथा शतरंजके मोहरोंमें हाथी घोड़े वगैरहकी स्थापना करना स्थापना निक्षेप है। स्थापना दो प्रकारकी होती है—तदाकार और अतदाकार। पाषाण या धातुकी बनी हुई तदाकार प्रतिबिम्बमें जिनेन्द्र भगवानकी या इन्द्रकी स्थापना करना तदाकार-स्थापना है। और शतरंजके मोहरोंमें जो कि हाथी या घोड़ेके आकारके नहीं है. हाथी घोड़ेकी स्थापना करना अर्थात् उनको हाथी घोड़ा मानना अतदाकार स्थापना है।

शंका—नाम और स्थापनामें क्या भेद है?

समाधान—नाम और स्थापनामें बहुत भेद है। नाम तो केवल लोक व्यवहार चलानेके लिए ही रखा जाता है। जैसे किसीका नाम इन्द्र या जिनेन्द्र रख देनेसे इन्द्र या जिनेन्द्रकी तरह उसका आदर सन्मान नहीं किया जाता। किन्तु धातु पाषाणके प्रतिबिम्बमें स्थापित जिनेन्द्रकी अथवा इन्द्रकी पूजा साक्षात् जिनेन्द्र या इन्द्रकी तरह ही की जाती है।

जो पदार्थ आगामी परिणामकी योग्यता रखता हो उसे द्रव्य निक्षेप कहते हैं। जैसे इन्द्रकी प्रतिमा बनानेके लिए जो काष्ठ लाया गया हो उसमें इन्द्रकी प्रतिमारूप परिणत होनेकी योग्यता है अतः उसे इन्द्र कहना द्रव्य निक्षेप है। और वर्त्तमान पर्यायसे युक्त वस्तुको भावनिक्षेप कहते हैं। जैसे, स्वर्गके स्वामी साक्षात् इन्द्रको इन्द्र कहना भाव निक्षेप है। ऐसे ये चार निक्षेप हैं।

प्रकाशकीय

भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ अपने जन्म कालसे ही एक कार्यशील संस्था है। प्रारम्भमें इसका कार्य जैनधर्मपर किये जाने वाले आक्षेपोंका निराकरण करके जनतामें फैले हुए अज्ञानको दूर करना मात्र था, इसके बाद इसी उद्देश्यको लक्ष्यमें रखकर एक प्रचार विभागकी स्थापना की गयी। आज इसके प्रचारक भारतवर्षके विभिन्न प्रदेशोंमें पहुंच कर जनतामें फैले हुए अज्ञानको दूर करनेमें यथाशक्ति प्रयत्नशील हैं। तथा संघका मुख पत्र 'जैन सन्देश' प्रति सप्ताह सर्वत्र पहुंच कर इस कर्तव्यमें योग दान देता है। मथुराके बाहर चौरासी नामक तीर्थक्षेत्रपर संघ भवनमें संघका प्रधान कार्यालय तथा एक विशाल पुस्तकालय है, जिसमें प्रकाशित पुस्तकों और ग्रन्थोंका अच्छा संग्रह है।

यतः इस संस्थाका प्रधान लक्ष्य जैनधर्मका प्रचार करना है अतः इसके अन्तर्गत एक ट्रैक्ट विभाग प्रारम्भसे ही चालू है, जिसमें समयोपयोगी आवश्यक ट्रैक्ट प्रकाशित होते हैं। सन् १९४१ में प्रकाशन विभागको बढ़ाने का विचार हुआ और 'संघ ग्रंथमाला' तथा 'संघ पुस्तक माला' के नामसे दो नवीन मालाएं चालू की गयीं। संघ ग्रथमालाका प्रारम्भ सिद्धान्त ग्रन्थ श्री जय-धवलजीके प्रकाशनसे हुआ। इसके दो खंड प्रकाशित हो चुके हैं। पुस्तक मालामें अब तक सात पुस्तक प्रकाशित हुई हैं, इनमें 'जैनधर्म' ऐसी उल्लेखनीय पुस्तक भी है। एक वर्षमें ही इसके दो संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

इसी वर्षसे क्षुल्लक श्री निजानन्दजीके पूर्वनाम स्वामी कर्मानन्दके आधार पर एक स्वामी ग्रन्थमाला प्रारम्भ की गयी है। इस ग्रन्थमालामें स्वामीजीकी पुस्तकें प्रकाशित होती रहेंगी। इसकी प्रथम बृहत्पुस्तक 'ईश्वर मीमांसा' प्रकाशित हो गयी है।

इस तरह छै सूत्रोंके द्वारा गतिका कथन करके जन्मके भेद बतलाते हैं—

सम्मूर्छन-गर्भोपपादा जन्म ॥ ३१ ॥

अर्थ—जन्म तीन प्रकारका है—सम्मूर्छन-जन्म, गर्भ-जन्म और उपपाद-जन्म। तीनों लोकोंमें सर्वत्र विना माता-पिताके सम्बन्धके सब ओरसे पुद्गलोंको ग्रहण करके जो शरीरकी रचना हो जाती है उसे सम्मूर्छन जन्म कहते हैं। स्त्रीके उदरमें माता-पिताके रज-वीर्यके मिलनेसे जो शरीरकी रचना होती है उसे गर्भ जन्म कहते हैं। और जहाँ जाते ही एक अन्तर्मुहूर्तमें पूर्ण शरीर बन जाता है ऐसे देव और नारकियोंके जन्मको उपपाद जन्म कहते हैं। इस तरह संसारी जीवोंके तीन प्रकारके जन्म हुआ करते हैं ॥ ३१ ॥

आगे योनिके भेद बतलाते हैं—

सचित्त-शीत-संवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥ ३२ ॥

अर्थ—सचित्त, शीत,संवृत, इनके उल्टे अचित्त, उष्ण, विवृत, और इन तीनोंका मेल अर्थात् सचित्ताचित्त, शीतोष्ण, संवृत-विवृत, ये योनिके नौ भेद होते हैं। जीवोंके उत्पन्न होनेके स्थान विशेषको योनि कहते हैं। जो योनि चेतनासहित हो उसे सचित्त योनि कहते हैं, अचेतन हो तो अचित्त कहते हैं, और दोनों रूप हो तो सचित्ताचित्त कहते हैं। शीत स्पर्श रूप हो तो शीतयोनि कहते हैं, उष्ण स्पर्श रूप हो तो उष्ण योनि कहते हैं, और दोनों रूप हो तो शीतोष्ण योनि कहते हैं। योनि स्थान ढका हुआ हो, स्पष्ट दिखायी न देता हो तो उसे संवृत योनि कहते हैं। स्पष्ट दिखायी देता हो तो उसे विवृत योनि कहते हैं और कुछ ढका हुआ तथा कुछ खुला हुआ हो तो उसे संवृत-विवृत कहते हैं। योनि और जन्ममें आधार

प्रस्तुत पुस्तक तत्त्वार्थसूत्रका एक नवीन संस्करण है, इसमें सूत्रोंके आगे [illegible] विशेषार्थ तथा शंका-समाधानके द्वारा विषयका खुलासा करनेके साथ ही साथ तत्त्वार्थसूत्रकी महत्त्वपूर्ण टीका सर्वार्थसिद्धिका भी संक्षिप्त सार आ गया है और तत्त्वार्थराजवार्तिकसे भी कुछ उपयोगी चर्चाएं यत्र तत्र दे दी गयी हैं। यह नवीन टीका इस ढंगसे लिखी गयी है कि तत्त्वार्थसूत्र पढ़ने वाले और सर्वार्थसिद्धि पढ़ने वाले छात्रोंके साथ ही साथ स्वाध्याय प्रेमी पाठक भी इससे लाभ उठा सकेंगे। इसीसे जो शंका-समाधान तत्त्वार्थसूत्र पढ़ने वाले छात्रोंके लिए उपयोगी नहीं हैं उन्हें ब्रैकेटमें दे दिया गया है। उसे तथा अनावश्यक विशेषार्थोंको छोड़ कर शेष भाग तत्त्वार्थसूत्र पढ़ने वाले छात्रोंको पढ़ाना चाहिये। और सर्वार्थसिद्धि पढ़ने वाले तथा स्वाध्याय प्रेमी जनोंको तो आद्योपान्त ही पढ़ना चाहिये। तत्त्वार्थ सूत्र तथा उसकी टीकामें सैकड़ों जैन पारिभाषिक शब्दोंकी परिभाषाएं आयी हैं, अकारादि क्रमसे उन शब्दोंका एक कोश ग्रंथके अन्तमें दे दिया गया है। उससे कोई भी पाठक किसी भी शब्दका अर्थ सहूलियतसे जान सकता है। इस तरह यह संस्करण 'जैन-सिद्धान्त प्रवेशिका' का भी काम देने वाला है। आशा है पाठक इस संस्करणको भी वैसा ही पसन्द करेंगे जैसा उन्होंने 'जैन धर्म' पुस्तकको पसन्द किया है।

प्रस्तुत संस्करणके मुद्रण तथा कागज वगैरहकी व्यवस्थाके लिए काशी विद्यापीठ प्रेसके व्यवस्थापक श्री जयनाथ शर्मा तथा उनके कर्मचारियोंका मैं आभारी हूँ जिनके सौहार्दसे ही प्रस्तुत संस्करण इतना जल्दी और इस रूपमें प्रकाशित हो सका है।

दिगम्बर जैन संघभवन
चौरासी, मथुरा

मंत्री-
साहित्य विभाग

प्रस्तावना

प्रस्तुत सूत्रग्रन्थ जैन साहित्यका आद्य सूत्र ग्रन्थ तो है ही, संस्कृत जैन साहित्यका भी यह आद्य ग्रन्थ है। उस समय तक जैन साहित्य प्राकृत भाषामें ही पाया जाता था तथा उसीमें नये साहित्यका सृजन होता था। इस ग्रन्थके रचयिताने संस्कृत भाषामें रचना करनेका ओंकार किया और समस्त जैन सिद्धान्तको सूत्रोंमें निबद्ध करके गागरमें सागरको भरनेकी कहावतको चरितार्थ कर दिखाया। यह संकलन इतना सुसम्बद्ध और प्रामाणिक साबित हुआ कि भगवान महावीरकी द्वादशाङ्ग वाणीकी तरह ही यह जैन दर्शनका आधार स्तम्भ बन गया। न्याय दर्शनमें न्याय सूत्रोंको, वैशेषिक दर्शनमें वैशेषिक सूत्रोंको, मीमांसा दर्शनमें जैमिनि सूत्रोंको, वेदान्त दर्शनमें बादरायण सूत्रोंको और योग दर्शनमें योग सूत्रोंको जो स्थान प्राप्त है, वही स्थान जैन दर्शनमें इस सूत्र ग्रन्थको प्राप्त है।

जैन धर्मके दोनों सम्प्रदायोंमें इसकी एक सी मान्यता और आदर है। दोनों सम्प्रदायोंके प्रमुख आचार्योंने इसपर महत्त्वपूर्ण टीका ग्रन्थ रचे हैं। इसके 'प्रमाणनयैरधिगमः' सूत्रको आधार बनाकर अनेक दार्शनिकोंने प्रमाण शास्त्रका विवेचन किया है। दिगम्बर जैनोंमें तो इसके पाठ मात्रसे एक उपवासका फल बतलाया है। यथा—

'दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति।
फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुङ्गवैः॥'

अर्थात्—दस अध्याय प्रमाण तत्त्वार्थका पाठ करनेपर उपवासका फल होता है ऐसा मुनि श्रेष्ठोंने कहा है।

१–नाम

इस ग्रन्थका प्रथम सूत्र 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' है, जिसके द्वारा इसमें मोक्षका मार्ग बतलाया गया है, यही इसका प्रधान विषय है। इसीसे इसको मोक्षशास्त्र भी कहते हैं। तथा दूसरा सूत्र है—'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।' इसमें तत्त्वार्थके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन बतलाकर आगे दसों अध्यायोंमें सात तत्त्वोंका ही विवेचन क्रमवार किया है। अर्थात् प्रथम चार अध्यायोंमें जीव तत्त्वका, पाँचवें अध्यायमें अजीव तत्त्वका, छठे और सातवें अध्यायमें आस्रव तत्त्वका, आठवें अध्यायमें बन्ध तत्त्वका, नौवें अध्यायमें संवर और निर्जरा तत्त्वका तथा दसवें अध्यायमें मोक्ष तत्त्वका वर्णन है। इसपरसे इस ग्रन्थका वास्तविक नाम तत्त्वार्थ है। यही इसका मूल नाम है; क्योंकि इस ग्रन्थकी सबसे महत्त्वशाली तीन टीकाओंमेंसे पहली टीका सर्वार्थसिद्धिको तत्त्वार्थवृत्ति, दूसरी टीकाको तत्त्वार्थवार्तिक और तीसरीको तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक नाम उनके रचयिताओंने ही दिया है। तथा तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके रचयिता आचार्य विद्यानन्दने तो अपनी आप्तपरीक्षाके अन्तमें 'तत्त्वार्थ शास्त्र' नामसे ही इस ग्रन्थका उल्लेख किया है। चूँकि यह ग्रन्थ सूत्र रूपमें है इसलिए 'तत्त्वार्थ सूत्र' नामसे ही इसकी ख्याति है। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें भी इसी नामसे इसकी ख्याति है। इस सम्प्रदायमें जो सूत्रपाठ प्रचलित है उसपर एक भाष्य भी है जिसे स्वोपज्ञ कहा जाता है। उस भाष्यके आरम्भिक श्लोकोंमें तथा प्रशस्तिमें भी उसका नाम 'तत्त्वार्थाधिगम' दिया हुआ है। इससे इसे तत्त्वार्थाधिगम सूत्र भी कहते हैं।

२–दो तरहके सूत्रपाठ

इस सूत्र ग्रन्थके दो प्रकारके सूत्र पाठ उपलब्ध हैं—एक सूत्रपाठ दिगम्बर मान्य है और दूसरा सूत्र पाठ श्वेताम्बर मान्य। प्रस्तुत संस्करणमें जो सूत्रपाठ है वह दिगम्बर मान्य है। इस सूत्रपाठके दसों अध्यायोंमें सूत्र संख्या क्रमशः इस प्रकार है–३३ + ५३ + ३९ + ४२

+४२ + २७ + ३६ + २६ + ४७ + ६ = ३५७ कुल संख्या। श्वेताम्बर-सूत्रपाठके दसों अध्यायोंमें सूत्र संख्या क्रमशः इस प्रकार है—३५ + ५२ + १८ + ५३ + ४४ + २६ + ३४ + २६ + ४६ + ७ = ३४४। प्रत्येक अध्यायके बहुतसे सूत्रोंमें जहाँ अत्यधिक साम्यता है वहां कुछ अन्तर भी है। वह अन्तर कहीं तो शाब्दिक है और कहीं सैद्धान्तिक। किन्तु सैद्धान्तिक अन्तर कम है और शाब्दिक अन्तर अधिक है।, दोनों सूत्रपाठोंमें ऐसे भी अनेक सूत्र हैं जो एकमें है और दूसरे में नहीं हैं। इस दृष्टिसे तीसरा अध्याय उल्लेखनीय है। क्योंकि दि० सूत्रपाठमें इस अध्यायमें ३९ सूत्र हैं जब कि श्वे० सूत्रपाठमें १८ ही सूत्र हैं जो कि अपूर्णसे जान पड़ते हैं। किन्तु श्वे० सूत्रपाठपर जो एक भाष्य है जिसे सूत्रकारका ही कहा जाता है उसके द्वारा सूत्रोंकी कमीकी पूर्ति हो जाती है।

३–दोनों सूत्र पाठोंपर कुछ उल्लेखनीय टीकाएँ

दि० सूत्रपाठपर सबसे पहली टीका आचार्य पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि है। यह टीका सबसे प्राचीन है। आचार्य पूज्यपादका समय ईसाकी पांचवीं शती है। इसके बादकी दूसरी उल्लेखनीय टीका अकलंक देवका तत्त्वार्थवार्तिक है। इसके अवलोकनसे पता चलता है कि इस वार्तिक ग्रन्थमें पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धिका अच्छा उपयोग हुआ हैं। अकलंकदेवका समय मैंने ई० ६२० से ६८० तक निर्धारित किया था। किन्तु न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजीने उसमें एक शताब्दी बढ़ कर ७२० से ७८० तक निर्धारित किया। अब न्यायाचार्यजीको अपनी भूल ज्ञात हो गयी है और आशा है वे भी उसी निर्णयपर पहुंचेंगे जिसपर मैं पहुंच चुका हूं। तीसरी महत्त्वपूर्ण टीका विद्यानन्दका तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक है। पं. दरबारीलालजी कोठियाने इनका समय ई० ७७५ से ८४० तक निर्धारित किया है।

श्वेताम्बर सूत्रपाठकी सबसे प्रथम टीका तो वह भाष्य ही है जिसे

सूत्रकार कहा जाता है। श्वेताम्बराचार्योंने इसपर जो टीकाएं रची हैं वे केवल सूत्रपाठपर नहीं रची, बल्कि सूत्रपाठ और भाष्यको एक ग्रन्थ मानकर उसीपर अपनी टीकाएं रची हैं। सबसे प्रथम टीका आचार्य सिद्धसेनगणीकी है। यह बहुत विस्तृत है। इनका समय आठवीं शताब्दी माना जाता है। अपनी इस टीकामें गणिजीने अकलंकदेवके सिद्धि विनिश्चय नामक ग्रन्थका उल्लेख किया है। अतः यह निश्चित है कि गणिजीकी उक्त टीका तत्त्वार्थ वार्तिकके बाद ही रची है।

४. कर्त्ता

श्वेताम्बर सम्प्रदाय मान्य तत्त्वार्थाधिगम भाष्यको स्वयं सूत्रकारकृत कहा जाता है। उसके अन्तमें जो प्रशस्ति है उसमें रचयिताका नाम उमास्वाति लिखा है। यथा—

इदमुच्चैर्नागरवाचकेन सत्त्वानुकम्पया दृब्धम्।
तत्त्वार्थाधिगमाख्यं स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम् ॥ ५ ॥

अर्थात्—उच्च नागर शाखाके उमास्वाति वाचकने जीवोंपर दया करके तत्त्वार्थाधिगम नामके शास्त्रको रचा।

दिगम्बर सम्प्रदायमें मूल तत्त्वार्थ सूत्रकी प्रतियोंके अन्तमें जो दो तीन श्लोक जोड़ दिये गये हैं उनमेंसे एक इस प्रकार है—

तत्त्वार्थसूत्रकर्त्तारं गृद्धपिच्छोपलक्षितम्।
वन्दे गणीन्द्रसंजातमुमास्वामीमुनीश्वरम् ॥

अर्थात्—तत्त्वार्थ सूत्रके कर्ता, गृद्ध पिच्छसे युक्त, गणीन्द्र संजात, उमास्वामी मुनीश्वरको मैं नमस्कार करता हूँ।

नगर ताल्लुकेके एक दिगम्बर शिलालेख नं० ४६ में लिखा है—

'तत्त्वार्थसूत्रकर्तारमुमास्वातिमुनीश्वरम्।
श्रुतकेवलिदेशीयं वन्देऽहं गुणमन्दिरम् ॥

इसमें तत्वार्थ सूत्रके कर्त्ताका नाम उमास्वाति बतलाया है और उन्हें श्रुतकेवलिदेशीय लिखा है। सम्भवतः 'गणीन्द्र संजात' का मतलब भी श्रुतकेवलीदेशीय ही जान पड़ता है।

श्रमणवेल गोलाके शिला लेखोंमें यह श्लोक पाया जाता है—

अभूदुमास्वातिमुनीश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृद्धपिच्छः।
तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी॥

अर्थात्—कुन्द कुन्दके वंशमें गृद्ध पिच्छाचार्य उमा स्वाति मुनीश्वर हुए। उस समय समस्त पदार्थोंका ज्ञाता उनके समान दूसरा नहीं।

शिला लेख नं० १०८ में लिखा है—

अभूदुमास्वाति मुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी।
सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुंगवेन॥

अर्थात्—आचार्य कुन्द कुन्दके पवित्र वंशमें सकलार्थके जानने वाले उमा स्वाति मुनि हुए। जिन्होंने जिन प्रणीत द्वादशांग वाणीको सूत्रोंमें निबद्ध किया।

इस तरह दिगम्बर परम्पराके उक्त उल्लेखोंमें तत्वार्थसूत्रके कर्ताका नाम उमास्वामी अथवा उमास्वाति बतलाया है और उन्हें गृद्ध पिच्छाचार्य तथा श्रुतकेवलीदेशीय लिखा है। तथा कुन्दकुन्दाचार्यके वंशमें हुआ कहा है।

यहां यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि दिगम्बर परम्पराके उक्त उल्लेख प्रायः ११वीं, १२वीं शताब्दीके बादके हैं। अतः यह जानना जरूरी हो जाता है कि उससे पूर्वका भी कोई उल्लेख है या नहीं?

आचार्य विद्यानन्दने तत्त्वार्थसूत्रपर तत्वार्थ श्लोकवार्तिक रचते हुए आरम्भमें एक वाक्य दिया है—'एतेन गृद्धपिच्छाचार्यपर्यन्त मुनिसूत्रेण व्यभिचारिता निरस्ता'। यहां गृद्धपिच्छाचार्यमुनिसूत्रसे मतलब तत्त्वार्थसूत्रसे है। अतः आचार्य विद्यानन्द गृद्धपिच्छाचार्यको

तत्त्वार्थसूत्रका रचयिता बतलाते हैं। तथा आचार्य वीरसेन स्वामी भी अपनी धवला टीकामें तत्त्वार्थसूत्रको गृद्धपिच्छाचार्यकी कृति कहते हैं। ये दोनों ही विद्वान लगभग समकालीन हैं। आचार्य वीरसेन स्वामीने शक संवत् ७३८ (सन् ८१६ ई०) में अपनी जयधवला टीका समाप्त की है और लगभग यही समय विद्यानन्दका है। अतः आठवीं-नौवीं शताब्दीका यह उल्लेख उक्त उल्लेखोंसे प्राचीन है। यद्यपि उक्त उल्लेखोंमें भी तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताको गृद्धपिच्छाचार्य लिखा है किन्तु उसमें उनका नाम उमास्वाति अथवा उमास्वामी बतलाया है, जब कि इन दोनों आचार्योंने इस विषयमें कुछ भी नहीं लिखा। जहां तक हम जानते हैं इन दोनों आचार्योंके सिवा अन्य कोई प्राचीन दि० उल्लेख तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताके विषयमें अभी तक हमारे देखनेमें नहीं आया। अतः इनके आधारपर हम इतना ही कह सकते हैं कि आठवीं नौवीं शताब्दीमें दिगम्बर सम्मत तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता गृद्धपिच्छाचार्य माने जाते थे। उमास्वाति नामके साथ जो गृद्धपिच्छाचार्य शब्दका उल्लेख शिलालेखों आदिमें पाया जाता है, वह बादका है।

इस विषयपर और भी प्रकाश डालनेके लिए तत्त्वार्थ-वार्तिकके अन्तरंगपर दृष्टि डालना आवश्यक है। उससे पहले यहां हम दिगम्बर और श्वेताम्बर सूत्रपाठके कुछ सूत्रोंका भेद दिखला देना आवश्यक समझते हैं, क्योंकि आगेकी चर्चासे उनका सम्बन्ध है।

दि० सूत्र

१	१—२१	भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्।
२	२—७	जीवभव्याभव्यत्वानि च।
३	२—२०	स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थाः।
४	२—३३	जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः।
५	३—१	रत्नशर्करा·······सप्ताधोधः।
६	४—८	शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः।

७	५—२	द्रव्याणि ।
८	५—३	जीवाश्च ।
६	५—३६	बंधेऽधिकौ पारिणामिकौ ।
१०	८—६	मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम् ।

श्वे० सूत्र

१	१—२२	भवप्रत्ययो नारकदेवानाम् ।
२	२—७	जीवभव्याभव्यत्वादीनि च ।
३	२—२१	स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तेषामर्थाः ।
४	२—३४	जराय्वण्डपोतजानां गर्भः ।
५	३—१	रत्न शर्करा·······सप्ताधोऽधः पृथुतराः ।
६	४—६	शेषा स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराद्वयोर्द्वयोः ।
७-८	५—२	द्रव्याणि जीवाश्च ।
६	५—३६	बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ ।
१०	८—७	मत्यादीनाम् ।

१. तत्त्वार्थ वार्तिक (पृ. ५५) में यह शंका उठायी गयी है कि नारक शब्दका पूर्व निपात होना चाहिये। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह शंका श्वे. सूत्रपाठके 'नारक देवानाम्' पदको लक्ष्यमें रखकर उठायी गयी है।

२. तत्त्वार्थ वार्तिक (पृ० ७६) में शंका उठायी गयी है कि 'जीव भव्याभव्यत्वानि' सूत्रमें आदि पद होना चाहिये। यह शंका भी श्वे. सूत्रपाठको लक्ष्यमें रखकर उठायी गयी जान पड़ती है।

३ तत्त्वार्थ वा० (पृ० ६२) में शंका उठायी गयी है कि 'तदर्थाः' यहां समास नहीं हो सकता। यह शंका भी 'तेषामर्थाः' इस श्वे. सूत्र-पाठको लक्ष्यमें रखकर उठायी गयी जान पड़ती है।

इसी तरह ऊपर जो सूत्र दिये गये हैं उन सभीको अलग करके तत्त्वार्थवार्तिकमें शंका उठाकर दि० सूत्रपाठको ही ठीक ठहराया गया है। किन्तु इससे भी इस बातकी पूर्ण पुष्टि नहीं होती कि ये शङ्काएं श्वे० सूत्रपाठको लक्ष्यमें रखकर ही उठायी गयी हैं, क्योंकि वार्तिककारने यह शङ्काएं उठाते हुए पाठभेदका उल्लेख नहीं किया है। अतः नीचे वे तीन ऐसे प्रमाण दिये जाते हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि श्वे० सम्मत पाठभेदको लक्ष्यमें रखकर ही ये शङ्काएं की गयी हैं।

१. त० वा० (पृ० १०२, सू० ३३) में लिखा है—'केचित् पोतजा इति पठन्ति'। अर्थात् कोई लोग पोतके स्थानमें 'पोतज' पढ़ते हैं। यह स्पष्ट ही श्वे० सूत्रपाठकी ओर संकेत है क्योंकि उसीमें 'जरायुजाण्डपोतजानां गर्भः' यह पाठ है।

२. त० वा० (पृ० ११३) में तीसरे अध्यायके प्रथम सूत्रके विषयमें शंका की गयी है—'केचिदत्र पृथुतरा इति पठन्ति'। अर्थात् कुछ लोग इस सूत्रमें 'सप्ताधोधः' के बाद 'पृथुतराः' पढ़ते हैं। यह स्पष्ट ही श्वे० पाठ 'सप्ताधोधः पृथुतराः' पर आपत्ति की गयी है।

३. त० वा० (पृ० २४२) पर पांचवें अध्यायके 'बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ' सूत्रका व्याख्यान करते हुए अकलंक देवने लिखा है—'बंधे समाधिकौ पारिणामिकौ इति अपरे सूत्रं पठन्ति' अर्थात् दूसरे लोग इस सूत्रको इस प्रकारसे पढ़ते हैं। यह पाठ भेद एक मौलिक मत भेदको लिये हुए है। वह मत भेद यह है कि दिगम्बर परम्परामें तो सजातीय परमाणु हो या विजातीय परमाणु हों, बन्धनेवाले परमाणुओंमें दो गुणका अन्तर होना जरूरी है। अर्थात् एक परमाणु दो गुणवाला हो और दूसरा चार गुणवाला हो, तभी उनमें बन्ध हो सकता है। श्वेताम्बर परम्परामें यदि सजातीय परमाणु हों तब तो दो गुण हीनाधिक होना जरूरी है। किन्तु यदि परमाणु

विजातीय हों तो समान गुण होने पर ही उनमें बन्ध हो जाता है। जैसे, यदि स्निग्ध स्निग्धका या रूक्ष रूक्षका बन्ध हो तो एकमें दो गुण और दूसरेमें चार गुण होने चाहिये। किन्तु स्निग्ध रूक्षका बन्ध हो तो दोनोंमें दो दो या चार चार गुण होना चाहिये तभी बन्ध होता है। इसी मत भेदके कारण जब दिगम्बर सूत्र पाठ 'बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ' है, तब श्वे० सूत्र पाठ 'बन्धे समाधिकौ परिणामिकौ' है।

अतः तत्त्वार्थ वार्तिकके उक्त उद्धरणोंसे यह स्पष्ट है कि अकलंक देवके सामने एक सूत्र पाठ और भी था। किन्तु वह सूत्र पाठ श्वेताम्बर सम्मत वही सूत्र पाठ था जो वर्तमानमें प्रचलित है या उसका कोई पूर्वज था? यह प्रश्न विचारणीय है।

तत्त्वार्थ वार्तिकमें प्रथम सूत्र 'सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' की कई उत्थानिकाएं दी हैं। उनमेंसे सबसे प्रथम उत्थानिका, जो सूत्रसे पहले दी गयी है वह तो सर्वार्थसिद्धिको लक्ष्यमें रखकर दी गयी है। किन्तु सूत्रके बादमें भी उसका व्याख्यान करनेसे पहले उत्थानिका दी गयी है जो इस प्रकार है—

"अपरे आरातीयपुरुषशक्त्यपेक्षत्वात् सिद्धान्तप्रक्रियाऽऽविष्करणार्थं मोक्षकारणनिर्देशसम्बन्धेन शास्त्रानुपूर्वीं रचयितुमन्विच्छन्निदमवोचदिति आचक्षते।"

अर्थात्—दूसरोंका कहना है कि शास्त्र रचना आरातीय पुरुषोंकी शक्तिकी अपेक्षा रखती है। अतः सिद्धान्तकी प्रक्रियाको प्रकट करनेके लिए मोक्षके कारणोंका निर्देश करते हुए शास्त्रकी आनुपूर्वीको रचनेकी इच्छा करने वाले सूत्रकारने यह सूत्र कहा।

आशय यह है कि अकलंक देव प्रथम सूत्रका व्याख्यान करनेसे पहले यह बतलाना चाहते हैं कि यह सूत्र क्यों कहा? तत्त्वार्थसूत्रकी प्राचीन टीका सर्वार्थसिद्धिमें तो यह कहा है कि मोक्षकी प्राप्तिके

उपायोंको लेकर विभिन्न मतोंमें विवाद है। कोई ज्ञानसे ही मुक्ति मानता है तो कोई चारित्रसे ही मुक्ति मानता है। अतः तीनोंको ही मुक्तिका मार्ग बतलानेके लिए सूत्रकारने प्रथम सूत्र रचा है। यही बात अकलंकदेवने भी कही है। किन्तु 'अपरे' करके जो दूसरी उत्थानिका दी गयी वह किसकी है?

श्वेताम्बर सम्मत सूत्र पाठका जो भाष्य है उसे सूत्रकार रचित ही कहा जाता है। उसमें प्रथम सूत्रसे पहले कुछ कारिकाएं हैं। उन कारिकाओंमेंसे शुरूमें तो वीर प्रभुको वर्णन पूर्वक नमस्कार किया है। २२वीं कारिकामें शिष्योंके हितके लिए अर्हद्वचनैकदेश लघुग्रंथ तत्त्वार्थाधिगमको कहनेकी प्रतिज्ञा की है। आगे कुछ कारिकाओंमें जिनवचन महोदधिकी महत्ता बतलायी है। ३० वीं कारिकामें श्रेयका उपदेश करना चाहिये ऐसा कहा है। अन्तिम कारिका इस प्रकार है—

नर्ते च मोक्षमार्गाद्धितोपदेशोऽस्ति जगति कृत्स्नेऽस्मिन्।
तस्मात् परमिदमेवेति मोक्षमार्गं प्रवक्ष्यामि ॥ ३१ ॥

अर्थात्—'इस समस्त जगतमें मोक्ष मार्गको छोड़ कर अन्य कोई हितोपदेश नहीं है अतः उत्कृष्ट हितोपदेश जो मोक्ष मार्ग है उसे कहता हूँ।'

अतः तत्त्वार्थ वार्तिककारने 'अपरे' करके जो उत्थानिका दी है वह तत्त्वार्थ भाष्यमें भी नहीं मिलती। उक्त उत्थानिकाके बाद 'आचक्षते' से आगे अकलंकदेव लिखते हैं—

'नात्र शिष्याचार्यसम्बन्धो विवक्षितः। किन्तु संसारसागरनिमग्नानेकप्राणिगणाभ्युज्जिहीर्षा प्रत्यागूर्णोऽन्तरेण मोक्षमार्गोपदेशं हितोपदेशो दुःप्राप इति निश्चित्य मोक्षमार्गव्याचिख्यासुरिदमाह।'

अर्थात् यहां शिष्य और आचार्यका सम्बन्ध विवक्षित नहीं है। किन्तु संसार सागरमें निमग्न अनेक प्राणिगणोंके उद्धारके लिए उद्यत

आचार्यने मोक्ष मार्गके उपदेशके बिना हितोपदेश दुष्प्राप्य निश्चय करके यह सूत्र कहा है।

यहां 'अन्तरेण मोक्ष मार्गोपदेशं हितोपदेशो दुःप्रापः' यद्यपि यह वाक्य भाष्य कारकाके 'नर्ते च मोक्षमार्गाद् हितोपदेशोऽस्ति' इस अंशका स्मरण करा देता है। किन्तु प्रथम तो भाष्यमें इसके पूर्वका भाग नहीं है, दूसरे भाष्यकारने इस ग्रन्थको शिष्य हितके लिए बनानेका निर्देश किया है। अतः यदि जरा देरके लिए यह मान भी लिया जाय कि उत्थानिकाके अन्तिम शब्द भाष्यकी ओर संकेत करते हैं फिर भी यह जिज्ञासा तो बनी ही रहती है कि उक्त 'अपरे' इत्यादि उत्थानिकाका संकेत किस ओर है ? क्या तत्त्वार्थसूत्रकी कोई दूसरी वृत्ति अकलंकदेवके सामने थी ?

हमारी इस आशंकाकी पुष्टि तत्त्वार्थ वार्तिकके एक दूसरे स्थलसे भी होती है। पांचवे अध्यायके चौथे सूत्रका व्याख्यान करते हुए (पृ० १९७) अकलंक देव लिखते है—

'स्यान्मतं वृत्तावुक्तमवस्थितानि धर्मादीनि न हि कदाचित्पंचत्वं व्यभिचरन्तीति ततः षड् द्रव्याणीत्युपदेशस्य व्याघातः।'

अर्थात् 'वृत्तिमें कहा है धर्म आदि द्रव्य अवस्थित हैं अर्थात् कभी भी पांचपनेको नहीं छोड़ते हैं।' कुछ विद्वानोंका विचार है कि यह वृत्ति तत्त्वार्थ भाष्य है; क्योंकि उसमें इसी सूत्रके व्याख्यानमें लिखा है—'अवस्थितानि च न कदाचित्पञ्चत्वं भूतार्थत्वं च व्यभिचरन्ति।' किन्तु हमारा विचार है कि यह वृत्ति तत्त्वार्थ भाष्यसे भिन्न कोई दूसरी ही होनी चाहिये और प्रथम सूत्रकी उक्त उत्थानिका भी उसीकी होगी।

यहां तत्वार्थ भाष्य और उसकी सिद्धसेन गणिकृत टीकाके सम्बन्धमें भी थोड़ा सा प्रकाश डालना आवश्यक है।

तत्वार्थ भाष्यकी आरम्भिक कारिकाओंमें एक कारिका इस प्रकार है—

'महतोऽतिमहाविषयस्य दुर्गमग्रन्थभाष्यपारस्य ।
कः शक्तः प्रत्यासं जिनवचनमहोदधेः कर्तुम् ॥२३॥'

इसमें जिन वचन रूपी महोदधिको महान बतलाते हुए उसे 'दुर्गम ग्रन्थ भाष्य पार' बतलाया है। टीकाकारने इस पदका व्याख्यान इस प्रकार किया है—'दुर्गमो ग्रन्थभाष्ययोः पारो निष्ठा यस्य। ग्रन्थानुसारी पद-गमक सांकेतिको ग्रन्थः। तस्य महत्त्वादनन्तगमपर्यायत्वात् दुर्गमः पारः, तस्यैवार्थविवरणं भाष्यं, तस्यापि नयवादानुगमनाद्दुरवगाहः।'

अर्थात् इस जिन वचन रूपी महोदधिके ग्रन्थ और उन ग्रन्थोंके अर्थको बतलाने वाले जो उनके भाष्य हैं, उनका पार पाना कठिन है।

यहां तत्त्वार्थ भाष्यकारने आगम ग्रन्थोंके साथ उनके भाष्योंका भी उल्लेख किया है। अतः यह स्पष्ट है कि तत्त्वार्थ भाष्यकी रचना भाष्योंके बादमें ही हुई। भाष्योंका रचना काल विक्रमकी ७वीं शती है। अतः तत्त्वार्थ भाष्य सातवीं शतीके पहलेकी रचना नहीं हो सकता।

तत्त्वार्थ भाष्यकी आद्य टीका सिद्धसेन गणिकृत है। सिद्धसेन गणिने अपनी इस टीकामें सिद्धि विनिश्चय नामक ग्रन्थके सृष्टि परीक्षा नामक प्रकरणको देखनेका उल्लेख किया है। अकलंक देवकृत सिद्धि-विनिश्चय ग्रन्थ उपलब्ध है। अतः यह निश्चित है कि सिद्धसेन गणि अकलंकके बादमें हुए हैं। तथा उनकी टीकाके कुछ स्थलोंके देखनेसे यह भी पता चलता है कि उन्होंने अकलंकदेवका तत्त्वार्थ वार्तिक देखा था। उदाहरणके लिए—

१. तत्त्वार्थवार्तिकको प्रारम्भ करते हुए शंका की गयी है कि मोक्षका उपदेश पहले क्यों नहीं किया वह सब पुरुषार्थोंमें प्रधान है? इसका उत्तर दिया गया कि मोक्षमें किसीको विवाद नहीं है, विवाद कारणमें है। और इतना कह कर पाटलीपुत्र मार्गका उदाहरण दिया है। यथा—'मोक्षोपदेशः पुरुषार्थ प्रधानत्वात्' 'मोक्षमेव कस्मान्नाप्राक्षीत् इति

चेन्न कार्यविशेषसम्प्रतिपत्तेः । कारणं तु प्रति विप्रतिपत्तिः पाटलीपुत्रमार्ग-विप्रतिपत्तिवत् ।'

गणिजीने भी प्रथम सूत्रका व्याख्यान करते हुए यही शंका उठाई है और उसका समाधान भी इन्हीं शब्दोंमें किया है। यथा–'कस्मात् हेतव एव मोक्षस्य कथ्यन्ते न पुनः स एव प्रधानत्वादादौ प्रदर्श्यते''सत्यमसौ प्रधानः तथापि तु तत्र प्रायो वादिनां नास्ति विप्रतिपत्तिः,''''''तद्धेतुषु प्रायो विसंवादः'। इतना ही नहीं, इसी सूत्रके व्याख्यानमें 'पाटलीपुत्र-गामि मार्गवत्' दृष्टान्तका भी प्रकारान्तरसे उपयोग किया है।

२ तत्त्वार्थ वार्तिकमें दो वार्तिक इस प्रकार हैं–'एषां पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरम् । उत्तरलाभे तु नियतः पूर्वलाभः ।' ये ही वाक्य तत्त्वार्थ भाष्यमें भी हैं। गणिजीने इनका जो व्याख्यान किया है तथा 'अपरे' करके जिस व्याख्यान्तरका निर्देश किया है उन्हें देखनेसे तत्त्वार्थ वार्तिकका स्मरण बरबस हो आता है।

अतः यह निश्चित है कि सिद्धसेन गणि विक्रमकी आठवीं शताब्दीसे पहले नहीं हुए। तथा दसवीं शताब्दीके विद्वान शीलांक और अभयदेवने उनकी तत्त्वार्थ टीकासे उद्धरण दिये हैं। अतः वे वि० आठवीं और दसवीं शताब्दीके मध्यवर्ती समयमें हुए हैं। अतः वि० सातवीं शतीके बादमें रचे हुए भाष्यपर सिद्धसेनकी टीका रचे जानेमें कोई अनुपपत्ति खड़ी नहीं होती।

इसके विपरीत यदि भाष्यको मूलकारकी रचना माना जाता है तो दिगम्बर सम्मत सूत्रपाठपर सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक जैसी महत्त्वपूर्ण टीकाओंके रचे जानेपर भी भाष्यपर एक भी तत्कालीन टीकाका न मिलना उसकी स्थितिमें सन्देह पैदा करता है।

कहा जा सकता है कि तत्त्वार्थ वार्तिकके अन्तमें 'उक्तं च' करके जो कारिकाएं पायी जाती हैं वे तत्त्वार्थ भाष्यकी हैं, तथा अन्य भी कुछ ऐसे वाक्य मिलते हैं जो तत्त्वार्थ भाष्यके हो सकते हैं! किन्तु इन सबकी स्थिति

सन्देह जनक है; क्यों कि अकलंक देवके सामने जो एक अन्य वृत्ति होनेका आभास मिलता है सम्भव है ये सब उससे लिया गया हो।

तत्त्वार्थ वार्तिकका एक और भी उल्लेख ध्यान देने योग्य है। पांचवें अध्यायके 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' सूत्रका व्याख्यान करते हुए अकलंक देवने लिखा है—"उक्तं हि अर्हत्प्रवचने 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः'। अर्थात् अर्हत्प्रवचनमें भी कहा है—'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः'। यह 'अर्हत्प्रवचन' नामक ग्रंथ कौन सा है जो सूत्र रूप है तथा जिसके सूत्र तत्त्वार्थसूत्रके ही समान हैं? यह एक विचारणीय प्रश्न है।

कहा जा सकता है कि सिद्धसेन गणीने अपनी टीकाकी पुष्पिकाओंमें तत्त्वार्थाधिगमको 'अर्हत्प्रवचन संग्रह' लिखा है, तथा भाष्यकारने अपनी कारिकाओंमें 'अर्हद्वचनैकदेशस्य संग्रहं' लिखा है। अतः 'अर्हत्प्रवचन'से अकलंकने तत्वार्थ भाष्यका ही उल्लेख किया है। किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है; क्यों कि अर्हत्प्रवचनमें और अर्हत्प्रवचन-संग्रह में बहुत अन्तर है। प्रत्युत इन उल्लेखोंसे मेरे मनमें एक सन्देह पैदा हुआ है और वह यह है कि यह तत्वार्थ भाष्य कहीं उस 'अर्हत्प्रवचन'से ही तो संकलित नहीं है जिसका उल्लेख अकलंक देवने किया है? क्यों कि भाष्यकी प्रशस्तिमें भाष्यकारने लिखा है—

'अर्हद्वचनं सम्यक् गुरुक्रमेणागतं समवधार्य'

अर्थात् गुरु परम्परासे चले आये हुए 'अर्हत्वचन' को भले प्रकार अवधारण करके यह ग्रन्थ रचा।

तथा आरम्भमें इसे अर्हत्वचनके एक देशका संग्रह बतलाया है। और अर्हद्वचन और 'अर्हत्प्रवचन' में कोई अन्तर नहीं है। इस परसे इसे 'अर्हत्प्रवचन संग्रह' कहना भी उचित प्रतीत होता है।

अकलंक देवके द्वारा उल्लिखित 'अर्हत्प्रवचन' अथवा 'अर्हत्प्रवचन हृदय' नामक ग्रन्थ दिगम्बर सम्मत ही जान पड़ता है। यह भी

संभव है कि वह उभय सम्प्रदायको सम्मत हो और दिगम्बर तथा श्वेताम्बर सूत्रपाठोंका वही उद्गम स्थान हो। सम्भवतया इसीसे सूत्रकारको कोई दिगम्बर सिद्ध करता है तो कोई श्वेताम्बर सिद्ध करता है और कोई यापनीय सिद्ध करता है, जब कि उभय सम्प्रदाय सम्मत कुछ उल्लेखनीय सूत्रोंकी स्थिति दिगम्बर परम्पराके अधिक अनुकूल है। उदाहरणके लिये सोलह कारण भावना और २२ परीषहोंको बतलाने वाले सूत्र उपस्थित किये जा सकते हैं। अस्तु, इतना प्रासंगिक कथन करनेके बाद हम पुनः उसी चर्चापर आते हैं।

यह स्पष्ट है कि प्रारम्भसे ही तत्त्वार्थ सूत्रका जितना समादर दि० सम्प्रदायमें रहा है उतना श्वेताम्बर सम्प्रदायमें नहीं रहा। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें तो वह पीछेसे प्रविष्ट हुआ प्रतीत होता है जिसका श्रेय सम्भवतः तत्त्वार्थ भाष्यके कर्त्ताको है। भाष्यकारने अपनी प्रशस्तिमें अपना नाम उमास्वाति दिया है। श्वेताम्बर सम्प्रदायकी प्राचीन मानी जाने वाली कल्पसूत्र स्थविरावली और नन्दिसूत्र पट्टावलीमें उमास्वातिका नाम तक नहीं है। शेष जिन पट्टावलियोंमें यह नाम है वे सब प्रायः १३ वीं शताब्दीके बादकी हैं।

दिगम्बर परम्परामें भी उमास्वामी अथवा उमास्वातिका उल्लेख ११ वीं, १२ वीं शताब्दीके बादके ही शिलालेखोंमें मिलता है। इससे पहलेका कोई उल्लेख हमारे देखनेमें नहीं आया। तत्त्वार्थसूत्रके आद्य टीकाकार पूज्यपाद देवनन्दिने, और अकलंक देवने उसके कर्त्ताका उल्लेख नहीं किया। हां, विद्यानन्दने अपने तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिकमें चर्चा करते हुए तत्त्वार्थ सूत्रको गृद्धपिच्छाचार्य मुनिका अवश्य बतलाया है, किन्तु उन्होंने भी ग्रंथके आरम्भमें या अन्तमें कहीं भी उसके कर्त्ताका उल्लेख नहीं किया है।

ईसाकी ११वीं शताब्दीके विद्वान प्रभाचन्द्राचार्यने सर्वार्थसिद्धिपर तत्त्वार्थ वृत्तिपद नामसे जो टिप्पण लिखा है उसमें भी सूत्रकार

का उल्लेख नहीं है। १३वीं शताब्दीके श्री भास्कर नन्दिकी सुखबोध नामकी वृत्तिमें भी सूत्रकारका उल्लेख नहीं है। हां, विक्रमकी १३वीं शतीके विद्वान बालचन्द्र[1] मुनिकी बनायी हुई कनड़ी टीकामें उमास्वाति नाम दिया है और साथ ही गृद्धपिच्छाचार्य नाम भी दिया है। इस टीकामें तत्त्वार्थसूत्रकी उत्पत्ति जिस प्रकारसे बतलाई है उसका सार [1]'अनेकान्त' से दिया जाता है—

'सौराष्ट्र देशके मध्य उजयन्त गिरिके निकट गिरिनगर नामके पत्तनमें आसन्न भव्य, स्वहितार्थी, द्विज कुलोत्पन्न, श्वेताम्बर भक्त सिद्धय्य नामका एक विद्वान श्वेताम्बर शास्त्रोंका जाननेवाला था। उसने 'दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः' यह सूत्र बनाकर एक पाटियेपर लिख दिया। एक दिन चर्याके लिए श्री गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वाति मुनि वहां आये और उन्होंने उस सूत्रके पहले 'सम्यक्' पद जोड़ दिया। जब वह विद्वान् बाहरसे लौटा और उसने पाटियेपर 'सम्यक्' शब्द लगा देखा तो वह अपनी मातासे मुनिराजके आनेका समाचार मालूम करके, खोजता हुआ उनके पास पहुंचा और पूछने लगा—'आत्माका हित क्या है?' इसके बादका प्रश्नोत्तर प्रायः सब वही है जो सर्वार्थसिद्धिके आरम्भमें आचार्य पूज्यपादने दिया है।

प्रभाचन्द्राचार्यने अपने टिप्पणमें प्रश्नकर्त्ता भव्यका नाम तो सम्भवतः 'सिद्धय्य' ही दिया है। किन्तु यह कथा नहीं दी। अतः नहीं कहा जा सकता कि यह कथा कहां तक ठीक है और इसका आधार क्या है? फिर भी हमारे जानतेमें तत्त्वार्थसूत्रका यही एक ऐसा टीकाकार है जिसने गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वातिको सूत्रका कर्ता बतलाया है। श्रमणबेलगोलाके जिन शिलालेखोंमें गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वातिका उल्लेख है अथवा उमास्वातिको तत्त्वार्थसूत्रका कर्ता बतलाया है वे भी लगभग इसी कालके हैं।

---

१ देखो, अनेकांत, वर्ष १, पृ० २७० आदि।

लगभग इसी समयके आस-पासकी रची हुई एक तत्त्वार्थसूत्रकी टीका और है जिसका नाम अर्हत्सूत्रवृत्ति[1] है। उसमें आचार्य कुन्दकुन्द को तत्त्वार्थसूत्रका कर्ता बतलाया है। इतना ही नहीं, तत्त्वार्थसूत्रके एक श्वेताम्बर टिप्पणकारने भी ऐसा उल्लेख किया है। उसने अपनी टिप्पणीके अन्तमें तत्त्वार्थसूत्रके विषयमें 'दुर्वादापहर' नामसे कुछ पद्य देते हुए अपने सम्प्रदायवालोंको दो शिक्षाएं दी हैं–'एक[2] तो तत्त्वार्थसूत्रके विधाता वाचक उमास्वातिको कोई दिगम्बर अथवा निन्हव न कहने पाये ऐसा यत्न करना चाहिये। दूसरे, कुन्दकुन्द, इडाचार्य (ऐलाचार्य) पद्मनन्दि और उमास्वाति, ये एक ही व्यक्तिके नाम कल्पित करके जो लोग इस ग्रन्थका आद्यकर्ता कुन्दकुन्दको बतलाते हैं वह ठीक नहीं है। वह कुन्दकुन्द इस तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता प्रसिद्ध उमास्वातिसे भिन्न ही हैं।'

इस तरह १२वीं-१४वीं शतीमें भी तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताको लेकर मतभेदके उल्लेख मिलते हैं। किन्तु इस मतभेदका कारण 'गृद्ध पिच्छाचार्य' नाम ही प्रतीत होता है; क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्दकी भी गृद्धपिच्छाचार्य नामसे ख्याति थी। इसकी चर्चा डा० ए० एन० उपाध्येने प्रवचनसारकी प्रस्तावनामें की है। इसीकी वजहसे आचार्य कुन्दकुन्दको भी तत्त्वार्थसूत्रका रचयिता किन्हींने मान लिया प्रतीत होता है। अतः इसपरसे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि दिगम्बर परम्पराके सूत्रपाठके रचयिता गृद्ध पिच्छाचार्य नामके कोई आचार्य थे। यही प्राचीन उल्लेख है जिसकी चर्चा ऊपर की है। श्वेताम्बर सूत्रपाठ सहित उमास्वातिके भाष्यका प्रचलन होनेपर कालान्तरमें गृद्ध पिच्छाचार्य और उमास्वाति नामको भ्रमवश मिला दिया गया हो यह सम्भव है जैसा कि सिद्धान्तशास्त्री पं० फूलचन्दजीका भी मत है।

४–आद्य मंगल श्लोक

यद्यपि पूज्यपाद, अकलंकदेव और विद्यानन्दने 'मोक्षमार्गस्य

१–२–देखो अनेकांत, वर्ष १, कि० ४, पृ, १६८–१६९।

नेतारं' आदि मंगल श्लोकका अपनी टीकाके आरम्भमें व्याख्यान नहीं किया। फिर भी विद्यानन्द उसे सूत्रकारका ही मानते हैं जैसा कि आप्त परीक्षाके 'इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ मुनीन्द्रस्तोत्रगोचरा' इस उल्लेखसे स्पष्ट है। तथा तत्त्वार्थसूत्रके उत्तरकालीन टीकाकार भास्करनन्दि श्रुतसागर आदिने उसे सूत्रकारकृत मान कर उसका व्याख्यान भी किया है। इसीसे हमने भी सूत्रकारकृत मानकर ही ग्रन्थके आदिमें उसे स्थान दिया है।

प्रस्तुत टीकाके सम्बन्धमें—

तत्त्वार्थसूत्र एक ऐसा ग्रन्थ है जिसकी टीका लिखना टीकाकारके लिये एक महत् सौभाग्यकी वस्तु है। इसीसे जहां इसपर अनेक महत्त्व-पूर्ण और साधारण संस्कृत टीकाएं रची गई हैं, हिन्दी टीकाएं भी अनेक हैं। फिर भी मेरा यह विचार हुआ कि इस ग्रन्थपर हिन्दीमें एक ऐसी टीका लिखी जानी चाहिये जिसमें सब संस्कृत टीकाओंकी आवश्यक तथा उपयोगी बातें आ जायें। किन्तु जब मैंने लिखना प्रारम्भ किया तो मेरा विचार बदल गया और तब मैंने यह स्थिर किया कि सूत्रके अर्थको स्पष्ट करनेके लिए जो उपयोगी बातें हों वही दी जायें। तथा टीका इस ढंगसे लिखी जाये कि वह तत्त्वार्थसूत्र पढ़ने वाले और सर्वार्थ सिद्धि पढ़नेवाले छात्रोंके साथ ही साथ स्वाध्याय प्रेमियोंके भी काम आ सके। अतः मैंने सूत्रका अर्थ तो तत्त्वार्थसूत्र पढ़ने वालोंकी दृष्टि रखकर लिखा है और विशेषार्थ तथा शङ्का समाधान प्रायः सर्वार्थसिद्धि पढ़ने वालोंकी दृष्टिसे लिखे हैं। इसीसे विशेषार्थसे बाहर जो शङ्का-समाधान हैं उन्हें ब्रैकेटमें दे दिया है। सर्वार्थसिद्धिकी दार्शनिक चर्चाओंको छोड़कर उसकी प्रायः सभी सैद्धान्तिक चर्चाएं विशेषार्थोंमें आ गई हैं। दार्शनिक चर्चाओंको मैंने इसलिए छोड़ दिया है कि प्रथम तो उनका तत्त्वार्थसूत्रके साथ ऐसा सम्बन्ध नहीं है कि उनके बिना उसके मन्तव्योंको समझनेमें कठिनाई हो। दूसरे, वे चर्चाएं स्वाध्याय

प्रेमियोंकी दृष्टिसे उतनी उपयोगी नहीं है, जितनी गहन हैं। कहीं कहीं एक दो बात तत्त्वार्थ राजवार्तिकसे भी ले ली गयी है। इस तरह यह मेरी टीका अबतक की हिन्दी टीकाओंसे कुछ भिन्न ही प्रकारकी है। मैंने प्रत्येक अर्थ और विशेषार्थको नपे तुले शब्दोंमें लिखा है,ज्यादा विस्तार नहीं किया है, फिर भी अपनी दृष्टिसे इस ढंगसे लिखा है कि पढ़नेवाला सरलतासे उसे समझ जाये। वैसे तो तत्त्वार्थसूत्रका सभी विषय गहन है और बिना किसीके समझाये उसे समझना कठिन है।

तत्त्वार्थसूत्र जैन पारिभाषिक शब्दोंका भण्डार है अतः उसकी टीकामें उन शब्दोंकी परिभाषाएं आना स्वाभाविक है। जैन परिभाषाओंसे अनजान व्यक्तिको कभी कभी जैन ग्रन्थ पढ़ते हुए बड़ी कठिनाईका सामना करना पड़ जाता है। अतः मैंने इस संस्करणके अन्तमें तत्त्वार्थसूत्रके पारिभाषिक शब्दोंका एक कोश भी अकारादि क्रमसे दे दिया है उससे पाठक प्रत्येक शब्दकी परिभाषा सरलतासे जान सकेंगे।

यदि मेरे इस प्रयत्नसे छात्रों और स्वाध्यायप्रेमियोंको कुछ भी लाभ पहुंच सका तो मैं अपने प्रयत्नको सफल समझूँ गा।

जयधवला कार्यालय
भदैनी, बनारस

—कैलाशचन्द्र शास्त्री

तत्त्वार्थसूत्र
का
विषयानुक्रम

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पञ्चम अध्याय

षष्ठम अध्याय

सप्तम अध्याय

अष्टम अध्याय

नवम अध्याय

———

तत्त्वार्थसूत्र



मंगलाचरण

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

अर्थ—जो मोक्षमार्गका प्रवर्त्तक है, कर्मरूपी पर्वतोंका भेदन करनेवाला है और समस्त तत्त्वोंको जानता है, उसे मैं उन गुणोंकी प्राप्तिके लिए नमस्कार करता हूँ।

विशेषार्थ—यहाँ तीन विशेषणोंके साथ आप्तकी स्तुति की है। प्रथम विशेषणसे आप्तको परम हितोपदेशी बतला कर जगतके प्राणियोंके प्रति उनका परम उपकार दर्शाया है। दूसरे विशेषणसे आप्तको निर्दोष और वीतराग बतलाया है; क्योंकि जगतके समस्त जीवोंको अपने स्वरूपसे भ्रष्ट करनेवाले मोहनीय कर्म तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मका नाश करके ही आप्त होता है। तीसरे विशेषणसे अपने गुण पर्याय सहित समस्त पदार्थोंको एक साथ जाननेके कारण आप्तको सर्वज्ञ बतलाया है। इस तरह परम हितोपदेशी, वीतराग और सर्वज्ञ ही आप्त है। उसीके उपदेशसे शास्त्रकी उत्पत्ति होती है, उसका यथार्थ ज्ञान होता है, तथा उसीके द्वारा सर्वज्ञता और वीतरागताकी प्राप्ति होती है। अतः ग्रन्थके प्रारम्भमें ऐसे आप्तको नमस्कार करना उचित ही है।

अक्षरवालेसे जो पूज्य होता है वही प्रधान होता है। दर्शन और ज्ञानमें दर्शन ही पूज्य है; क्योंकि सम्यग्दर्शनके होनेपर ही मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है। अतः पूज्य होनेसे सम्यग्दर्शनको पहले कहा है उसके बाद ज्ञानको रखा है। तथा सम्यग्ज्ञान-पूर्वक ही सम्यक्चारित्र होता है। इसीसे चारित्रको अन्तमें रखा है ॥ १ ॥

अब सम्यग्दर्शनका लक्षण कहते हैं—

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ २ ॥

अर्थ—जो पदार्थ जिस स्वभाववाला है उसका उसी स्वभाव रूपसे निश्चय होना तत्त्वार्थ है और तत्त्वार्थका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

विशेषार्थ—'तत्त्व' और 'अर्थ' इन दो शब्दोंके मेलसे 'तत्त्वार्थ' शब्द बना है। तत्त्व शब्द भाव सामान्यका वाचक है। अतः जो पदार्थ जिस रूपमें स्थित है उसका उसी रूपमें होना 'तत्त्व' है। और जिसका निश्चय किया जाता है उसे अर्थ कहते हैं। अतः तत्त्व रूप अर्थको तत्त्वार्थ कहते हैं। आशय यह है कि तत्त्वका मतलब है भाव, और अर्थका मतलब है भाव-वान्। अतः न केवल भावका और न केवल भाववान्का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है किन्तु भाव विशिष्ट भाववान्का श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शनके दो भेद हैं—सराग सम्यक्दर्शन और वीतराग सम्यक्दर्शन। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये सराग सम्यग्दर्शनके सूचक हैं। रागादिककी तीव्रताके न होनेको प्रशम कहते हैं। संसार, शरीर और भोगोंसे भयभीत होनेका नाम संवेग है। सब प्राणियोंको अपना मित्र समझना अनुकम्पा

है। आगममें जीवादि पदार्थोंका जैसा स्वरूप कहा है उसी रूप उन्हें मानना आस्तिक्य है। सराग सम्यग्दृष्टिमें ये चारों बातें पायी जाती हैं। तथा आत्माकी विशुद्धिका नाम वीतराग सम्यग्दर्शन है ॥ २ ॥

आगे बतलाते हैं कि सम्यग्दर्शन कैसे उत्पन्न होता है—

तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥ ३ ॥

अर्थ—वह सम्यग्दर्शन दो प्रकारसे उत्पन्न होता है—स्वभावसे और परके उपदेशसे। जो सम्यग्दर्शन परके उपदेशके बिना स्वभावसे ही उत्पन्न होता है उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं। और जो सम्यग्दर्शन परके उपदेशसे उत्पन्न होता है उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

विशेषार्थ—दोनों ही सम्यग्दर्शनोंकी उत्पत्तिका अन्तरंग कारण तो एक ही है वह है दर्शन मोहनीय कर्मका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम। उसके होते हुए जो सम्यग्दर्शन बिना दूसरेके उपदेशके स्वयं ही प्रकट हो जाता है उसे निसर्गज कहते हैं। और परोपदेशपूर्वक जो होता है उसे अधिगमज कहते हैं। सारांश यह है कि जैसे पुरानी किंवदन्तीके अनुसार कुरुक्षेत्रमें बिना ही प्रयत्नके सोना पड़ा हुआ मिल जाता है वैसे ही किसी दूसरे पुरुषके उपदेशके बिना, स्वयं ही जीवादि तत्त्वोंको जानकर जो श्रद्धान होता है वह निसर्गज सम्यग्दर्शन है। और जैसे सोना निकालनेकी विधिको जाननेवाले मनुष्यके प्रयत्नसे खानसे निकाला हुआ स्वर्णपाषाण सोना रूप होता है वैसे ही दूसरे पुरुषके उपदेशकी सहायतासे जीवादि पदार्थोंको जानकर जो श्रद्धान होता है वह अधिगमज सम्यग्दर्शन है ॥ ३ ॥

अब तत्त्वोंको बतलाते हैं—

जीवाजीवास्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्षास्तत्त्वम् ॥ ४ ॥

अर्थ—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, और मोक्ष, ये सात तत्त्व हैं। जिसका लक्षण चेतना है वह जीव है। जिनमें चेतना नहीं पायी जाती ऐसे पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, ये पाँच अजीव हैं। बुरे कर्मोंके आनेके द्वारको आस्रव कहते हैं। आत्मा और कर्मके प्रदेशोंके परस्परमें मिलनेको बन्ध कहते हैं। आस्रवके रुकनेको संवर कहते हैं। कर्मोंके एक देश क्षय होनेको निर्जरा कहते हैं। और समस्त कर्मोंका क्षय होनेको मोक्ष कहते हैं।

शङ्का—तत्त्व सात ही क्यों हैं ?

समाधान—यह मोक्ष शास्त्र है इसका प्रधान विषय मोक्ष है अतः मोक्षको कहा। मोक्ष जीवको होता है अतः जीवका ग्रहण किया। तथा संसार पूर्वक ही मोक्ष होता है और संसार अजीवके होने पर होता है; क्योंकि जीव और अजीवके आपसमें बद्ध होनेका नाम ही संसार है। अतः अजीवका ग्रहण किया। संसारके प्रधान कारण आस्रव और बंध हैं। अतः आस्रव और बंधका ग्रहण किया। तथा मोक्षके प्रधान कारण संवर और निर्जरा हैं इसलिए संवर और निर्जराका ग्रहण किया ॥ ४ ॥

अब सम्यग्दर्शन आदि और जीव आदिके व्यवहारमें आनेवाले व्यभिचारको दूर करनेके लिए सूत्रकार निक्षेपोंका कथन करते हैं—

नाम-स्थापना-द्रव्य-भावतस्तन्न्यासः ॥ ५ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन आदि और जीव आदिका नाम, स्थापना,

विशेषार्थ–इन निक्षेपोंका यह प्रयोजन है कि लोकमें प्रत्येक वस्तुका चार रूपसे व्यवहार होता पाया जाता है। जैसे इन्द्रका व्यवहार नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके रूपमें होता देखा जाता है। इसी तरह सम्यग्दर्शन आदि और जीव आदिका व्यवहार भी चार रूपसे हो सकता है। अतः कोई नामको ही भाव न समझ ले, या स्थापनाको ही भाव न समझ बैठे, इसलिए व्यभिचारको दूर करके यथार्थ वस्तुको समझानेके लिए ही यह निक्षेपकी विधि बतलायी है। इनमेंसे नाम, स्थापना और द्रव्य, ये तीन निक्षेप तो द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे हैं और चौथा भावनिक्षेप पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे है ॥ ५ ॥

अब तत्त्वोंको जाननेका उपाय बतलाते हैं—

प्रमाणनयैरधिगमः ॥ ६ ॥

अर्थ–प्रमाण और नयोंके द्वारा जीवादिक पदार्थोंका ज्ञान होता है। सम्पूर्ण वस्तुको जाननेवाले ज्ञानको प्रमाण कहते हैं और वस्तुके एक देशको जाननेवाले ज्ञानको नय कहते हैं।

विशेषार्थ–प्रमाणके दो प्रकार हैं—स्वार्थ और परार्थ। जिसके द्वारा ज्ञाता स्वयं ही जानता है उसे स्वार्थ प्रमाण कहते हैं। इसीसे स्वार्थ प्रमाण ज्ञानरूप ही होता है; क्योंकि ज्ञानके द्वारा ज्ञाता स्वयं ही जान सकता है दूसरोंको नहीं बतला सकता। और जिसके द्वारा दूसरोंको ज्ञान कराया जाता है उसे परार्थ प्रमाण कहते हैं। इसीसे परार्थ प्रमाण वचनरूप होता है; क्योंकि ज्ञानके द्वारा ज्ञाता स्वयं जानकर वचनके द्वारा दूसरोंको ज्ञान कराता है। आगे ज्ञानके पाँच भेद बतलाये हैं—मति ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि ज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान और केवल ज्ञान। इनमेंसे श्रुतज्ञानके सिवा शेष चार ज्ञान तो

स्वार्थ प्रमाण ही हैं; क्योंकि वे मात्र ज्ञानरूप ही है; परन्तु श्रुतज्ञान ज्ञानरूप भी है और वचनरूप भी है अतः श्रुतज्ञान स्वार्थ भी है और परार्थ भी है। ज्ञानरूप श्रुतज्ञान स्वार्थ प्रमाण है, और वचनरूप श्रुतज्ञान परार्थ प्रमाण है। जैसे, तत्त्वार्थ सूत्रके ज्ञाताको तत्त्वार्थ सूत्रमें वर्णित विषयोंका जो ज्ञान है वह ज्ञानात्मक श्रुत होनेसे स्वार्थ प्रमाण है। और जब वह ज्ञाता अपने वचनोंके द्वारा दूसरोंको उन विषयोंका ज्ञान कराता है वह वचनात्मक श्रुत परार्थ प्रमाण है। इस श्रुतज्ञानके ही भेद नय हैं ॥ ६ ॥

अब प्रमाण और नयके द्वारा जाने गये जीव आदि तत्त्वोंको जाननेका अन्य उपाय बतलाते हैं—

निर्देश-स्वामित्व-साधनाधिकरण-स्थिति-विधानतः ॥ ७ ॥

अर्थ—निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान—इन छै अनुयोगोंके द्वारा भी सम्यग्दर्शन आदि तथा जीव आदि पदार्थोंका ज्ञान होता है। जिस वस्तुको हम जानना चाहते हैं उसका स्वरूप कहना निर्देश है। स्वामित्वसे मतलब उस वस्तुके मालिकसे है। वस्तुके उत्पन्न होनेके कारणोंको साधन कहते हैं। वस्तुके आधारको अधिकरण कहते हैं। कालकी मर्यादाका नाम स्थिति है। विधानसे मतलब उसके भेदोंसे है। इस तरह इन छै बातोंके द्वारा उस वस्तुका ठीक ठीक ज्ञान हो जाता है।

विशेषार्थ—वस्तुको हम जानते तो प्रमाण और नयसे ही हैं, किन्तु उसके जाननेमें ऊपर बतलायी गयी छै बातें उपयोगी होती हैं, उनसे उस वस्तुकी पूरी पूरी जानकारी होनेमें सहायता मिलती है। जैसे, हम यदि सम्यग्दर्शनको जानना चाहते हैं तो उसके विषयमें छ अनुयोग इस प्रकार घटाना चाहिये—तत्त्वार्थके

श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं, यह निर्देश है। सम्यग्दर्शनका स्वामी जीव होता है। सम्यग्दर्शनके साधन दो हैं–अन्तरंग और वहिरंग। अन्तरंग साधन अथवा कारण तो दर्शन मोहनीय कर्मका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम है और जिन धर्मका सुनना, जिन बिम्बका दर्शन, जातिस्मरण वगैरह बहिरंग साधन हैं। अधिकरण भी दो हैं–अन्तरंग और वहिरंग। सम्यग्दर्शनका अन्तरंग अधिकरण या आधार तो आत्मा ही है; क्योंकि सम्यग्दर्शन उसीको होता है। और बहिरंग आधार त्रसनाड़ी है; क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव त्रसनाड़ीमें ही रहते हैं, उससे बाहर नहीं रहते। सम्यग्दर्शनकी स्थिति कमसे कम एक अन्तमुहूर्त मात्र है और अधिकसे अधिक सादि अनन्त है; क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्व एक बार प्राप्त होनेपर कभी नहीं छूटता, और मुक्त हो जानेपर भी बना रहता है। सम्यग्दर्शनके दो भेद भी हैं–निसर्गज और अधिगमज। तथा तीन भेद भी हैं–औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक।

इसी तरह ज्ञान, चारित्र और जीव आदि पदार्थोंमें निर्देश आदि लगा लेना चाहिये ॥ ७ ॥

जीव आदिको जाननेका और भी उपाय बतलाते हैं—

सत्संख्या-क्षेत्र-स्पर्शन-कालान्तर-भावाल्पबहुत्वैश्च ॥८॥

अर्थ–सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व, इन आठ अनुयोगोंके द्वारा भी जीव आदि पदार्थोंका ज्ञान होता है। सत्का अर्थ अस्तित्व या मौजूदगी है। भेदोंकी गिनतीको संख्या कहते हैं। वर्त्तमान निवासको क्षेत्र कहते हैं। तीनों कालोंमें विचरनेके क्षेत्रको स्पर्शन कहते हैं। कालका मतलब सभी जानते हैं। विरहकालको अन्तर कहते हैं। अर्थात् एक

दशासे दूसरी दशाको प्राप्त करके फिर उसी पहली दशामें आ जानेपर दोनोंके बीचमें जितना काल रहता है वह विरह काल कहलाता है। इसीको अन्तर कहते हैं। औपशमिक आदिको भाव कहते हैं। एक दूसरेकी अपेक्षा तुलना करके एकको कमती दूसरेको अधिक बतलाना अल्पबहुत्व है। इन आठोंके द्वारा भी सम्यग्दर्शन आदि तथा जीव आदिका ज्ञान होता है ॥ ८ ॥

मति-श्रुतावधि-मनःपर्यय-केवलानि ज्ञानम् ॥ ९ ॥

अर्थ—मति, श्रुत, अवधि मनःपर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान हैं। पाँच इन्द्रियों और मनके द्वारा पदार्थोंका जो ज्ञान होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं। मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थसे सम्बन्ध रखनेवाले किसी दूसरे पदार्थके ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते हैं। जैसे, मतिज्ञानके द्वारा घटको जान कर अपनी बुद्धिसे यह जानना कि यह घट पानी भरनेके कामका है, अथवा उस एक घटके समान या असमान जो अन्य बहुतसे घट हैं, उनको जान लेना श्रुतज्ञान है। इस श्रुतज्ञानके दो भेद हैं—अनक्षरात्मक और अक्षरात्मक। कर्ण इन्द्रियके सिवा बाकीकी चार इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाले मतिज्ञानके पश्चात् जो विशेष ज्ञान होता है वह अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। जैसे, स्वयं घटको जानकर यह जानना कि यह घट अमुक अमुक काममें आसकता है। और कर्ण इन्द्रियके द्वारा होनेवाले मतिज्ञानके पश्चात् जो विशेष ज्ञान होता है वह अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। जैसे, 'घट' इस शब्दको सुनकर कर्ण इन्द्रियके द्वारा जो मतिज्ञान हुआ उसने केवल शब्द मात्रको ही ग्रहण किया। उसके बाद उस 'घट' शब्दके वाच्य घड़ेको देखकर यह जानना कि यह घट है और यह पानी भरनेके कामका है, यह अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा लिए हुए रूपी पदार्थको प्रत्यक्ष जाननेवाले

ज्ञानको अवधिज्ञान कहते हैं। मनुष्य लोकमें वर्तमान जीवोंके मनमें स्थित जो रूपी पदार्थ हैं, जिनका उन जीवोंने सरल रूपसे या जटिल रूपसे विचार किया है, या विचार कर रहे हैं अथवा भविष्यमें विचार करेंगे, उनको स्पष्ट जाननेवाले ज्ञानको मनःपर्यय कहते हैं और सब द्रव्योंको सब पर्यायोंको एक साथ स्पष्ट जाननेवाले ज्ञानको केवल ज्ञान कहते हैं ॥ ९ ॥

ऊपर प्रमाण और नयोंके द्वारा वस्तुका ज्ञान होना बतलाया है। किन्तु कोई-कोई मतावलम्बी इन्द्रिय और पदार्थका जो सन्निकर्ष-सम्बन्ध होता है उसीको प्रमाण मानते हैं, कोई इन्द्रियको ही प्रमाण मानते हैं। अतः ऊपर कहे गये ज्ञानोंको ही प्रमाण बतलानेके लिए आचार्य सूत्र कहते हैं—

तत्प्रमाणे ॥ १० ॥

अर्थ—ऊपर कहे मति आदि ज्ञान ही प्रमाण हैं, अन्य कोई प्रमाण नहीं है।

विशेषार्थ—सूत्रकारका कहना है कि ज्ञान ही प्रमाण है, सन्निकर्ष अथवा इन्द्रिय प्रमाण नहीं है, क्योंकि इन्द्रिय और पदार्थका जो सम्बन्ध होता है उसे सन्निकर्ष कहते हैं। किन्तु सूक्ष्म पदार्थ जैसे परमाणु, दूरवर्त्ती पदार्थ जैसे सुमेरु और अन्तरित पदार्थ जैसे राम रावण आदिके साथ इन्द्रियका सन्निकर्ष नहीं हो सकता; क्योंकि इन्द्रियका सम्बन्ध तो सामने वर्त्तमान स्थिर स्थूल पदार्थके साथ ही हो सकता है। अतः सन्निकर्षको प्रमाण माननेसे इन पदार्थोंका कभी ज्ञान ही नहीं हो सकेगा। इसके सिवा सभी इन्द्रियाँ पदार्थको छूकर नहीं जानती हैं। मन और चक्षु जिसको जानते हैं उससे दूर रह कर ही उसे जानते हैं। अतः ज्ञान ही प्रमाण है, सन्निकर्ष अथवा इन्द्रिय प्रमाण नहीं है।

आगे प्रमाणके दो भेद बतलाये हैं–प्रत्यक्ष और परोक्ष। इन्हींमें दूसरोंके द्वारा माने गये प्रमाणके सब भेदोंका अन्तर्भाव हो जाता है। इसीसे 'प्रमाणे' यह द्विवचनका प्रयोग सूत्रमें किया है॥ १०॥

अब प्रमाणके उन दो भेदोंको बतलाकर सूत्रकार पूर्वोक्त पाँच ज्ञानोंका उनमें अन्तर्भाव करते हैं—

आद्ये परोक्षम् ॥ ११ ॥

अर्थ–पाँच ज्ञानोंमेंसे आदिके दो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं।

विशेषार्थ–यहाँ 'आद्य' शब्दका द्विवचनमें प्रयोग होनेसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका ग्रहण किया है। दोनों ज्ञान 'पर' अर्थात् इन्द्रिय, मन, उपदेश, प्रकाश आदिकी सहायतासे होते हैं इसलिए ये परोक्ष हैं; क्योंकि जो ज्ञान परकी अपेक्षासे होता है उसे परोक्ष कहते हैं॥ ११॥

अब मति और श्रुतके सिवा बाकीके तीन ज्ञानोंको प्रत्यक्ष बतलाते हैं—

प्रत्यक्षमन्यत् ॥ १२ ॥

अर्थ–मति और श्रुतके सिवा शेष-अवधि, मनःपर्यय और केवल ये तीन ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

विशेषार्थ–अक्ष नाम आत्माका है। जो ज्ञान आत्मासे ही उत्पन्न होता है, इन्द्रिय, प्रकाश, उपदेश आदिकी सहायता नहीं लेता, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रत्यक्षके भी दो भेद हैं—विकल प्रत्यक्ष यानी एक देश प्रत्यक्ष और सकल प्रत्यक्ष। अवधि और मनःपर्यय विकल प्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है॥ १२॥

आगे परोक्ष प्रमाणके सम्बन्धमें विशेष कथन करते हैं—

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥ १३ ॥

अर्थ—मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध, ये मतिज्ञानके ही नामान्तर हैं; क्यों कि ये पाँचों ही मति ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होते हैं।

विशेषार्थ—इन्द्रिय और मनकी सहायतासे जो अवग्रह आदि रूप ज्ञान होता है उसे मति कहते हैं। न्याय शास्त्रमें इस ज्ञानको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है; क्योंकि लोक व्यवहारमें इन्द्रियसे होनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष माना जाता है। परन्तु वास्तवमें तो पराधीन होने से यह ज्ञान परोक्ष ही है। पहले जानी हुई वस्तुको कालान्तरमें स्मरण करना स्मृति है। जैसे, पहले देखे हुए देवदत्तका स्मरण करना 'वह देवदत्त' यह स्मृति है। संज्ञाका दूसरा नाम प्रत्यभिज्ञान है। वर्त्तमानमें किसी वस्तुको देखकर पहले देखी हुई वस्तुका स्मरण होना और फिर पहले देखी हुई वस्तुका और वर्त्तमान वस्तुका जोड़रूप ज्ञान होना प्रत्यभिज्ञान है। न्यायशास्त्रमें प्रत्यभिज्ञानके अनेक भेद बतलाये हैं, जिनमें चार मुख्य हैं—एकत्व प्रत्यभिज्ञान, सादृश्य प्रत्यभिज्ञान, तद्विलक्षण प्रत्यभिज्ञान और तत्प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान। किसी पुरुषको देखकर 'यह वही पुरुष है जिसे पहले देखा था' ऐसा जोड़रूप ज्ञान होना एकत्व प्रत्यभिज्ञान है। वनमें गवय नामके पशुको देखकर ऐसा ज्ञान होना कि यह गवय मेरी गौ के समान है, सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है। भैंसको देखकर 'यह भैंस मेरी गौसे विलक्षण है' ऐसा जोड़रूप ज्ञान होना तद्विलक्षण प्रत्यभिज्ञान है। निकटकी वस्तुको देखकर पहले देखी हुई वस्तुके

स्मरणपूर्वक ऐसा जोड़रूप ज्ञान होना कि इससे वह दूर है, या ऊँची है, या नीची है, इत्यादि ज्ञानको तत्प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। चिन्ताका दूसरा नाम तर्क है। 'जहाँ अमुक चिन्ह होता है वहाँ उस चिन्हवाला भी होता है' ऐसे ज्ञानको चिन्ता या तर्क कहते हैं। न्यायशास्त्रमें व्याप्तिके ज्ञानको तर्क कहते हैं और साध्यके अभावमें साधनके अभावको तथा साधनके सद्भावमें साध्यके सद्भावको व्याप्ति कहते हैं। जैसे, 'अग्निके न होने पर धूआँ नहीं होता और धूआँके होनेपर अग्नि अवश्य होती है' यह व्याप्ति है और इसका जाननेवाले ज्ञानको तर्क-प्रमाण कहते हैं। जिसको सिद्ध किया जाता है उसे साध्य कहते हैं और जिसके द्वारा सिद्ध किया जाता है उसे साधन कहते हैं। साधनसे साध्यके ज्ञानको अभिनिबोध कहते हैं। इसका दूसरा नाम अनुमान है। जैसे, कहीं धुआँ उठता देखकर यह जान लेना कि वहाँ आग लगी है क्योंकि धुआँ उठ रहा है, यह अभिनिवोध है। ये सव ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं ॥ १३ ॥

आगे वतलाते हैं कि मतिज्ञान किससे उत्पन्न होता है—

तदिन्द्रियानिन्द्रिय-निमित्तम् ॥ १४॥

अर्थ—वह मतिज्ञान पाँच इन्द्रियोंकी और अनिन्द्रिय यानी मनकी सहायतासे होता है।

विशेषार्थ—इन्द्र अर्थात् आत्मा। आत्माके चिन्ह विशेषको इन्द्रिय कहते हैं। आशय यह है कि जाननेकी शक्ति तो आत्मामें स्वभावसे ही है, किन्तु ज्ञानावरण कर्मका उदय रहते हुए वह विना वाह्य सहायताके स्वयं नहीं जान सकता। अतः जिन अपने चिह्नोंके द्वारा वह पदार्थोंको जानता है उन्हें इन्द्रिय कहते हैं। अथवा, आत्मतो सूक्ष्मा है, दिखायी नहीं देता। अतः

जिन चिन्होंसे आत्माका अस्तित्व जाना जाता है उन्हें इन्द्रिय कहते हैं; क्योंकि इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिसे ही आत्माके अस्तित्वका पता लगता है। अथवा, इन्द्र यानी नामकर्म। उसके द्वारा जो रची जाय उसे इन्द्रिय कहते हैं।

शंका–जो इन्द्रिय नहीं उसे अनिन्द्रिय कहते हैं। तब मनको अनिन्द्रिय क्यों कहा? क्योंकि वह भी तो इन्द्र अर्थात् आत्माका चिन्ह है, उसके द्वारा भी आत्मा जानता है?

समाधान–यहाँ अनिन्द्रियका मतलब 'इन्द्रिय नहीं' ऐसा मत लेना, किन्तु 'किञ्चित् इन्द्रिय' लेना। अर्थात्, मन किञ्चित् इन्द्रिय है, पूरी तरहसे इन्द्रिय नहीं है। क्योंकि इन्द्रियोंका तो स्थान भी निश्चित है और विषय भी निश्चित है। जैसे, चक्षु शरीरके अमुक भागमें ही पायी जाती है तथा वह रूपको ही जानती है। किन्तु मनका न तो कोई निश्चित स्थान ही है और न कोई निश्चित विषय ही है; क्योंकि जैन सिद्धान्तमें ऐसा बतलाया है कि आत्माके जिस प्रदेशमें ज्ञान उत्पन्न होता है उसी स्थानके अंगुलके असंख्यातवें भाग आत्मप्रदेश उसी समय मनरूप हो जाते हैं तथा मनकी प्रवृत्ति भी सर्वत्र देखी जाती है इसलिए उसे अनिन्द्रिय कहा है। मनको अन्तःकरण भी कहते हैं; क्योंकि एक तो वह आँख वगैरहकी तरह बाहरमें दिखायी नहीं देता। दूसरे, मनका प्रधान काम गुण-दोषका विचार तथा स्मरण आदि है। उसमें वह इन्द्रियोंकी सहायता नहीं लेता। अतः उसे अन्तःकरण भी कहते हैं॥ १४॥

अब मतिज्ञानके भेद कहते हैं—

अवग्रहेहावाय-धारणाः॥ १५॥

अर्थ–अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा, ये चार मति-

ज्ञानके भेद हैं। इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध होते ही जो सामान्य ग्रहण होता है उसे दर्शन कहते हैं। दर्शनके अनन्तर ही जो पदार्थका ग्रहण होता है वह अवग्रह है। जैसे, चक्षुसे सफेद रूपको जानना अवग्रह है। अवग्रहसे जाने हुए पदार्थमें विशेष जाननेकी इच्छाका होना ईहा है। जैसे, यह सफेद रूप वाली वस्तु क्या है? यह तो वगुलोंकी पंक्तिसी प्रतीत होती है, यह ईहा है। विशेष चिन्होंके द्वारा यथार्थ वस्तुका निर्णय कर लेना अवाय है। जैसे, पंखोंके हिलनेसे तथा ऊपर नीचे होनेसे यह निर्णय कर लेना कि यह वगुलोंकी पंक्ति ही है, यह अवाय है। अवायसे जानी हुई वस्तुको कालान्तरमें भी नहीं भूलना धारणा है ॥ १५ ॥

आगे इन अवग्रह आदि ज्ञानोंके और भेद वतलानेके लिए उनके विषय वतलाते हैं—

वहु-वहुविध-क्षिप्रानिसृतानुक्त-ध्रुवाणां सेतराणाम् ॥ १६ ॥

अर्थ—वहु, वहुविध, क्षिप्र, अनिसृत, अनुक्त, ध्रुव और इनके प्रतिपक्षी अल्प, अल्पविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त, अध्रुव, इन वारहोंके अवग्रह आदि ज्ञान होते हैं। अथवा अवग्रह आदिसे इन वारहोंका ज्ञान होता है। वहुत वस्तुओंके ग्रहण करनेको वहुज्ञान कहते हैं। वहुत तरहकी वस्तुओंके ग्रहण करनेको वहु-विधज्ञान कहते हैं। जैसे, सेना या वनको एक समूह रूपमें जानना वहुज्ञान है। और हाथी घोड़े आदि या आम, महुआ आदि भेदों को जानना वहुविध ज्ञान है। वस्तुके एक भागको देखकर पूरी वस्तुको जान लेना अनिःसृत ज्ञान है। जैसे, जलमें डूबे हुए हाथीकी सूंडको देखकर हाथीको जान लेना। शीघ्रतासे जाती हुई वस्तुको जानना क्षिप्र ज्ञान है। जैसे, तेज चलती हुई रेलगाड़ीको या उसमें वैठकर वाहरकी वस्तुओंको जानना। विना कहे

अभिप्रायसे ही जान लेना अनुक्त ज्ञान है। बहुत काल तक जैसा-का तैसा निश्चल ज्ञान होना या पर्वत वगैरह स्थिर पदार्थको जानना ध्रुव ज्ञान है। अल्पका अथवा एकका ज्ञान होना अल्प ज्ञान है। एक प्रकारकी वस्तुओंका ज्ञान होना एकविध ज्ञान है। धीरे धीरे चलते हुए घोड़े वगैरहको जानना अक्षिप्र ज्ञान है। सामने विद्यमान पूरी वस्तुको जानना निसृत ज्ञान है। कहनेपर जानना उक्त ज्ञान है। चंचल बिजली वगैरहको जानना अध्रुव ज्ञान है। इस तरह बारह प्रकारका अवग्रह, बारह प्रकारकी ईहा, बारह प्रकारका अवाय और बारह प्रकारका धारणा ज्ञान होता है। ये सब मिलकर ज्ञानके ४८ भेद होते हैं तथा इनमेंसे प्रत्येक ज्ञान पाँचों इन्द्रियों और मनके द्वारा होता है। अतः ४८ को छैसे गुणा करनेपर मतिज्ञानके २८८ भेद होते हैं ॥ १६ ॥

आगे बतलाते हैं कि ये बहु बहुविध आदि किसके विशेषण हैं—

अर्थस्य ॥ १७ ॥

अर्थ—ये बहु, बहुविध आदि पदार्थके विशेषण हैं। अर्थात् बहु यानी बहुतसे पदार्थ, बहुविध यानी बहुत तरहके पदार्थ। इस तरह बारहों भेद पदार्थके विशेषण हैं।

[शङ्का—इसके कहनेकी क्या आवश्यकता है? क्योंकि बहु बहुविध तो पदार्थ ही हो सकता है, अन्य नहीं हो सकता, उसीके अवग्रह, ईहा आदि ज्ञान होते हैं?

समाधान—आप की शङ्का ठीक है; किन्तु अन्य मतावलम्बियोंके मतका निराकरण करनेके लिए 'अर्थस्य' सूत्र कहना पड़ा है। कुछ मतावलम्बी ऐसा मानते हैं कि इन्द्रियोंका सम्बन्ध पदार्थके साथ नहीं होता, किन्तु पदार्थमें रहनेवाले रूप, रस आदि गुणोंके साथ ही होता है। अतः इन्द्रियाँ गुणोंको ही ग्रहण

करती हैं, पदार्थको नहीं। किन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं है; क्योंकि वे लोग गुणोंको अमूर्तिक मानते हैं और इन्द्रियोंके साथ अमूर्तिकका सन्निकर्ष नहीं हो सकता।

शङ्का–तो फिर लोकमें ऐसा क्यों कहा जाता है–मैंने रूप देखा, मैंने गंध सूँघी ?

समाधान–इसका कारण यह है कि इन्द्रियोंके साथ तो पदार्थका ही सम्बन्ध होता है किन्तु चूँकि रूप आदि गुण पदार्थमें ही रहते हैं, अतः ऐसा कह दिया जाता है। वास्तवमें तो इन्द्रियाँ पदार्थको ही जानती हैं]॥ १७ ॥

आगे बतलाते हैं कि सभी पदार्थोंके अवग्रह आदि चारों ज्ञान होते हैं या उसमें कुछ अन्तर है—

व्यञ्जनस्यावग्रहः ॥ १८ ॥

अर्थ–व्यञ्जन अर्थात अस्पष्ट शब्द वगैरहका केवल अवग्रह ही होता है, ईहा आदि नहीं होते।

विशेषार्थ–स्पष्ट पदार्थके अवग्रहको अर्थावग्रह कहते हैं और अस्पष्ट पदार्थके अवग्रहको व्यञ्जनावग्रह कहते हैं। जैसे, श्रोत्र इन्द्रियमें एक हल्कीसी आवाजका मामूलीसा भान होकर रह गया। उसके बाद फिर कुछ भी नहीं जान पड़ा कि क्या था ? ऐसी अवस्थामें केवल व्यञ्जनावग्रह ही होकर रह जाता है। किन्तु यदि धीरे धीरे वह आवाज स्पष्ट हो जाती है तो व्यञ्जनावग्रहके बाद अर्थावग्रह और फिर ईहा आदि ज्ञान भी होते हैं। अतः अस्पष्ट पदार्थका केवल अवग्रह ज्ञान ही होता है और स्पष्ट पदार्थके चारो ज्ञान होते हैं ॥ १८ ॥

आगे बतलाते हैं कि जैसे अर्थावग्रह, ईहा वगैरह ज्ञान सभी इन्द्रियोंसे होते हैं वैसे व्यञ्जनावग्रह सभी इन्द्रियोंसे नहीं होता—

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥ १९ ॥

अर्थ—चक्षु और मनसे व्यञ्जनावग्रह नहीं होता; क्योंकि चक्षु और मन पदार्थको दूरसे ही जानते हैं, उससे भिड़कर नहीं जानते। जैसे, चक्षु आँखमें लगे अंजनको नहीं देख सकती, किन्तु दूरवर्ती पदार्थको देख सकती है। इसी तरह मन भी जिन पदार्थोंका विचार करता है वे उससे दूर ही होते हैं। इसीसे जैन सिद्धान्तमें चक्षु और मनको अप्राप्यकारी कहा है। शेष चारो इन्द्रियाँ अपने विषयको उससे भिड़कर ही जानती हैं। अतः व्यञ्जनावग्रह चार ही इन्द्रियोंसे होता है। इस तरह बहु आदि बारह विषयोंकी अपेक्षा व्यंजनावग्रहके ४८ भेद होते हैं। तथा पहले गिनाये हुए २८८ भेदोंमें इन ४८ भेदोंको मिला देनेसे मतिज्ञानके ३३६ भेद होते हैं ॥ १९ ॥

इस तरह मतिज्ञानका स्वरूप कहा। आगे श्रुतज्ञानका स्वरूप कहते हैं—

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदं ॥ २० ॥

अर्थ—श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। उसके दो भेद हैं। उनमेंसे एक भेदके अनेक भेद हैं और दूसरे भेदके बारह भेद हैं।

विशेषार्थ—पहले मतिज्ञान होता है। उसके बाद श्रुतज्ञान होता है। बिना मतिज्ञान हुए श्रुतज्ञान नहीं होता। यह बात दूसरी है कि श्रुतज्ञान होनेके बाद फिर श्रुतज्ञान हो, किन्तु पहला श्रुतज्ञान मतिपूर्वक ही होता है। उस श्रुतज्ञानके दो भेद हैं—अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट। अंगबाह्यके तो अनेक भेद हैं और अंगप्रविष्टके बारह भेद हैं—आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति

ज्ञातृ धर्म कथा, उपासकाध्ययन, अन्तःकृद्दश, अनुत्तरोपपादिकदश, प्रश्नव्याकरण, विपाक सूत्र, दृष्टिवाद। भगवान तीर्थङ्करने केवलज्ञानके द्वारा सब पदार्थोंको जानकर दिव्यध्वनिके द्वारा उपदेश दिया। उनके साक्षात् शिष्य गणधरने उस उपदेशको अपनी स्मृतिमें रख कर बारह अंगोंमें संकलित कर दिया। यह अंग प्रविष्ट श्रुतज्ञान कहा जाता है। किन्तु ये अंगग्रन्थ महान और गम्भीर होते हैं। अतः आचार्योंने अल्पबुद्धि शिष्योंपर दया करके उनके आधारपर जो ग्रंथ रचे, वे अंगबाह्य कहलाते हैं। ये सब अक्षरात्मक श्रुतज्ञानके भेद हैं। श्रुतज्ञानमें उसीकी मुख्यता है ॥२०॥

परोक्ष प्रमाणका कथन समाप्त हुआ। अब प्रत्यक्ष प्रमाणका वर्णन करते हुए सबसे प्रथम अवधि ज्ञानका कथन करते हैं। अवधि ज्ञानके दो भेद हैं—भवप्रत्यय और क्षयोपशमनिमित्त। उनमेंसे प्रथम भवप्रत्यय अवधि ज्ञानके स्वामी बतलाते हैं—

भवप्रत्ययोऽवधिर्देव-नारकाणाम् ॥ २१ ॥

अर्थ—भवप्रत्यय अवधिज्ञान देवों और नारकियोंके होता है।

विशेषार्थ—अवधि ज्ञान अवधि ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे होता है। और क्षयोपशम व्रत, नियम वगैरहके आचरणसे होता है। किन्तु देवों और नारकियोंमें व्रत, नियम वगैरह नहीं होते। अतः उनमें देव और नारकीका भव पाना ही क्षयोपशमके होनेमें कारण होता है। इसीसे उनमें होनेवाला अवधिज्ञान भवप्रत्यय—जिसके होनेमें भव ही कारण है, कहा जाता है। अर्थात् जो देव और नारकियोंमें जन्म लेता है उसके अवधि ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम हो ही जाता है। अतः वहाँ क्षयोपशमके होनेमें भव ही मुख्य कारण है।

इतना विशेष है कि सम्यग्दृष्टियोंके अवधि ज्ञान होता है और मिथ्यादृष्टियोंके कुअवधि ज्ञान होता है ॥ २१ ॥

आगे क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान किसके होता है, यह बतलाते हैं—

क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥ २२ ॥

अर्थ—क्षयोपशम निमित्त नामक अवधिज्ञान छै प्रकारका होता है और वह मनुष्य और तिर्यञ्चोंके होता है।

विशेषार्थ—अवधि ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम जिसमें निमित्त है उसे क्षयोपशम निमित्त अवधिज्ञान कहते हैं। यद्यपि सभी अवधिज्ञान क्षयोपशमके निमित्तसे होते हैं फिर भी इस अवधिज्ञानका नाम क्षयोपशम निमित्त इसलिए रखा गया कि इसके होनेमें क्षयोपशम ही प्रधान कारण है, भव नहीं। इसीसे इसे गुणप्रत्यय भी कहते हैं। इसके छै भेद हैं—अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित, अनवस्थित। जो अवधिज्ञान अपने स्वामी जीवके साथ साथ जाता है उसे अनुगामी कहते हैं। इसके तीन भेद हैं—क्षेत्रानुगामी, भवानुगामी और उभयानुगामी। जिस जीवके जिस क्षेत्रमें अवधिज्ञान प्रकट हुआ वह जीव यदि दूसरे क्षेत्रमें जाय तो उसके साथ जाय और छूटे नहीं, उसे क्षेत्रानुगामी कहते हैं। जो अवधिज्ञान परलोकमें भी अपने स्वामी जीवके साथ जाता है वह भवानुगामी है। जो अवधि अन्य क्षेत्रमें भी साथ जाता है और अन्य भवमें भी साथ जाता है वह उभयानुगामी है। जो अवधिज्ञान अपने स्वामी जीवके साथ नहीं जाता वह अननुगामी है। इसके भी तीन भेद हैं जो पूर्वोक्त तीन भेदोंसे उल्टे हैं। विशुद्ध परिणामोंकी वृद्धि होनेसे जो अवधिज्ञान बढ़ता ही जाता है उसे वर्धमान कहते हैं। संक्लेश परिणामोंकी वृद्धि होनेसे

जो अवधिज्ञान घटता ही जाता है उसे हीयमान कहते हैं। जो अवधिज्ञान जिस मर्यादाको लेकर उत्पन्न हुआ हो उसी मर्यादामें रहे, न घटे और न बढ़े, उसे अवस्थित कहते हैं और जो घटे-बढ़े उसे अनवस्थित कहते हैं ॥ २२ ॥

अब मनःपर्यय ज्ञानका कथन करते हैं—

ऋजु-विपुलमती मनःपर्ययः ॥२३॥

अर्थ—मनःपर्यय ज्ञानके दो भेद हैं-ऋजुमति और विपुलमति। दूसरेके मनमें सरल रूपमें स्थित रूपी पदार्थको जो ज्ञान प्रत्यक्ष जानता है उसे ऋजुमति मनःपर्यय कहते हैं और दूसरेके मनमें सरल अथवा जटिल रूपमें स्थित रूपी पदार्थको जो ज्ञान प्रत्यक्ष जानता है, उसे विपुलमति मनःपर्यय कहते हैं।

विशेषार्थ—देव, मनुष्य, तिर्यञ्च, सभीके मनमें स्थित विचारको मनःपर्यय ज्ञान जानता है, किन्तु वह विचार रूपी पदार्थ अथवा संसारी जीवके विषयमें होना चाहिये। अमूर्तिक द्रव्यों और मुक्तात्माओंके विषयमें जो चिन्तन किया गया होगा, उसे मनःपर्यय नहीं जान सकता। तथा उन्हीं जीवोंके मनकी बात जान सकता है जो मनुष्य लोककी सीमाके अन्दर हों। इतना विशेष है कि मनुष्यलोक तो गोलाकार है किन्तु मनःपर्यय ज्ञानका क्षेत्र गोलाकार न होकर पैंतालिस लाख योजन लम्बा चौड़ा चौकोर है। उसके दो भेदोंमेंसे ऋजुमति तो केवल उसी वस्तुको जान सकता है जिसके बारेमें स्पष्ट विचार किया गया हो अथवा मन वचन और कायकी चेष्टाके द्वारा जिसे स्पष्ट कर दिया गया हो। किन्तु विपुलमति मनःपर्यय चिन्तित, अचिन्तित और अर्ध-चिन्तितको भी जान लेता है ॥२३॥

अब मनःपर्ययके दोनों भेदोंमें विशेषता बतलाते हैं—

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥ २४ ॥

अर्थ—ऋजुमति और विपुलमतिमें विशुद्धि और अप्रतिपातकी अपेक्षासे विशेषता है। मनःपर्यय ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे जो आत्मामें उज्ज्वलता होती है वह विशुद्धि है। और संयम परिणामकी वृद्धि होनेसे गिरावटका न होना अप्रतिपात है। ऋजुमतिसे विपुलमति अधिक विशुद्ध होता है। तथा ऋजुमति होकर छूट भी जाता है किन्तु विपुलमतिवालेका चारित्र वर्धमान ही होता है, अतः वह केवलज्ञान उत्पन्न होने तक बराबर बना रहता है ॥ २४ ॥

आगे अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञानमें विशेषता बतलाते हैं—

विशुद्धि-क्षेत्र-स्वामि-विषयेभ्योऽवधि-मनःपर्यययोः ॥२५॥

अर्थ—अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञानमें विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषयकी अपेक्षासे अन्तर है।

विशेषार्थ—इसका खुलासा इस प्रकार है—अवधिज्ञान जिस रूपी द्रव्यको जानता है उसके अनन्तवें भाग सूक्ष्म रूपी द्रव्यको मनःपर्यय ज्ञान जानता है। अतः अवधि ज्ञानसे मनःपर्यय ज्ञान विशुद्ध है। अवधि ज्ञानकी उत्पत्तिका क्षेत्र समस्त त्रसनाड़ी है, किन्तु मनःपर्यय ज्ञान मनुष्य लोकमें ही उत्पन्न होता है। अवधि ज्ञानके विषयका क्षेत्र समस्त लोक है किन्तु मनःपर्यय ज्ञानके विषयका क्षेत्र पैतालिस लाख योजनका घन रूप ही है। इतने क्षेत्रमें स्थित अपने योग्य विषयको ही ये ज्ञान जानते हैं। तथा अवधिज्ञान चारों गतियोंके सैनी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक जीवोंके होता है किन्तु मनःपर्यय ज्ञान कर्म भूमिके गर्भज मनुष्योंके ही होता है उनमें भी संयमियोंके ही होता

है। संयमियोंमें भी वर्धमान चारित्रवालोंके ही होता है, हीयमान चारित्रवालोंके नहीं होता। वर्धमान चारित्रवालोंमें भी सात प्रकारकी ऋद्धियोंमेंसे एक दो ऋद्धियोंके धारी मुनियोंके ही होता है। और ऋद्धिधारियोंमें भी किसीके ही होता है, सभीके नहीं होता। विषयकी अपेक्षा भेद आगे सूत्रकार स्वयं कहेंगे। इस तरह अवधि और मनःपर्यय ज्ञानमें विशुद्धि वगैरहकी अपेक्षा भेद जानना चाहिये ॥ २५ ॥

अब क्रमानुसार तो केवलज्ञानका लक्षण कहना चाहिये, किन्तु केवलज्ञानका स्वरूप आगे दसवें अध्यायमें कहेंगे। अतः ज्ञानोंका विषय बतलाते हुए प्रथम मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका विषय बतलाते हैं—

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥२६॥

अर्थ—मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषयका नियम द्रव्योंकी कुछ पर्यायोमें हैं। अर्थात् ये दोनों ज्ञान द्रव्योंकी कुछ पर्यायोंको जानते हैं, सब पर्यायोंको नहीं जानते।

विशेषार्थ—इस सूत्रमें 'विषय' शब्द नहीं है अतः 'विशुद्धि क्षेत्र' आदि सूत्रसे 'विषय' शब्द ले लेना चाहिये। तथा 'द्रव्येषु' शब्द बहुवचनका रूप है इसलिए जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल सभी द्रव्योंका ग्रहण करना चाहिये। इन द्रव्योंमेंसे एक-एक द्रव्यकी अनन्त पर्यायें होती हैं। उनमेंसे कुछ पर्यायोंको ही मति श्रुत ज्ञान जानते हैं।

शङ्का—धर्म, अधर्म आदि द्रव्य तो अमूर्तिक हैं। वे मतिज्ञानके विषय नहीं हो सकते। अतः सब द्रव्योंको मतिज्ञान जानता है ऐसा कहना ठीक नहीं है?

समाधान—यह आपत्ति ठीक नहीं है, क्योंकि मनकी सहायतासे होनेवाला मति ज्ञान अमूर्तिक द्रव्योंमें भी प्रवृत्ति कर सकता है, और मनपूर्वक अवग्रह आदि ज्ञान होनेपर पीछे श्रुत-ज्ञान भी अपने योग्य पर्यायोंको जान लेता है। अतः कोई दोष नहीं है ॥ २६ ॥

अब अवधिज्ञानका विषय बतलाते हैं—

रूपिष्ववधेः ॥ २७ ॥

अर्थ—अवधिज्ञानके विषयका नियम रूपी पदार्थोंमें है। यहाँ पूर्व सूत्रसे 'असर्वपर्यायेषु' पद ले लेना चाहिये। तथा 'रूपी' शब्दसे पुद्गल द्रव्य लेना चाहिये; क्योंकि एक पुद्गल द्रव्य ही वास्तवमें रूपी है। अतः अवधिज्ञान पुद्गल द्रव्यकी कुछ पर्यायोंको जानता है। इतना विशेष है कि पुद्गल द्रव्यसे सम्बद्ध जीव द्रव्यकी भी कुछ पर्यायोंको जानता है; क्योंकि संसारी जीव कर्मोंसे बँधा होनेसे मूर्तिक जैसा ही हो रहा है। किन्तु मुक्त जीवको तथा अन्य अमूर्तिक द्रव्योंको अवधिज्ञान नहीं जानता। वह तो अपने योग्य सूक्ष्म अथवा स्थूल पुद्गल द्रव्यकी त्रिकालवर्ती कुछ पर्यायोंको ही जानता है ॥ २७ ॥

आगे मनःपर्यय ज्ञानका विषय बतलाते हैं—

तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य ॥ २८ ॥

अर्थ—सर्वावधिज्ञान जिस रूपी द्रव्यको जानता है उसके अनन्तवें भागको मनःपर्यय ज्ञान जानता है। सारांश यह कि अवधिज्ञानसे मनःपर्यय ज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म द्रव्यको जाननेकी शक्ति रखता है।

शङ्का—सर्वावधि ज्ञानका विषय तो परमाणु बतलाया है

और उसके अनन्तवें भागको मनःपर्यय जानता है ऐसा कहा है। सो परमाणुके अनन्त भाग कैसे हो सकते हैं ?

समाधान–एक परमाणुमें स्पर्श, रूप, रस और गन्ध गुणके अनन्त अविभागी प्रतिच्छेद (शक्तिके अंश) पाये जाते हैं। अतः उनकी अपेक्षासे परमाणुका भी अनन्तवाँ भाग होना संभव है ॥ २८ ॥

अब केवल ज्ञानका विषय बतलाते हैं—

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥ २९ ॥

अर्थ–केवलज्ञानके विषयका नियम सब द्रव्योंकी सब पर्यायोंमें है। आशय यह है कि एक-एक द्रव्यकी त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पर्यायें होती हैं। सो सब द्रव्योंको और सब द्रव्योंकी त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पर्यायोंको एक साथ एक समयमें केवलज्ञान प्रत्यक्ष जानता है ॥ २९ ॥

इस प्रकार ज्ञानोंका विषय कहा। अब यह बतलाते हैं कि एक आत्मामें एक साथ कितने ज्ञान रह सकते हैं–

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥ ३० ॥

अर्थ–एक आत्मामें एक साथ एकसे लेकर चार ज्ञान तक विभाग कर लेना चाहिये। अर्थात् एक हो तो केवल ज्ञान होता है, दो हों तो मतिज्ञान श्रुतज्ञान होते हैं। तीन हों तो मति, श्रुत और अवधिज्ञान होते हैं या मति, श्रुत और मनःपर्यय ज्ञान होते हैं। चार हों तो मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ज्ञान होते हैं। इससे अधिक नहीं होते ; क्योंकि केवल ज्ञान क्षायिक है–समस्त ज्ञानावरण कर्मका क्षय होनेसे होता है। इसीसे वह अकेला होता है, उसके साथ अन्य क्षायोपशमिक ज्ञान नहीं रह सकते ॥ ३० ॥

आगे बतलाते हैं कि आदिके तीन ज्ञान मिथ्या भी होते हैं—

मति-श्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥ ३१ ॥

अर्थ–विपर्ययका अर्थ विपरीत यानी उलटा होता है। यहाँ सम्यग्ज्ञानका अधिकार है। अतः विपर्ययसे सम्यग्ज्ञानका उलटा मिथ्याज्ञान लेना चाहिये। तथा 'च' शब्द समुच्चय-वाची है। अतः मति, श्रुत और अवधि ज्ञान सच्चे भी होते हैं और मिथ्या भी होते हैं ऐसा सूत्रका अर्थ जानना चाहिये।

शङ्का–ये तीनों ज्ञान मिथ्या क्यों होते हैं?

समाधान–ये तीनों ज्ञान मिथ्यादृष्टिके भी होते हैं। अतः जैसे कडुवी तूम्बीमें रखा हुआ दूध कडुवा हो जाता है, वैसे ही जिस आत्माके मिथ्यादर्शनका उदय है उस आत्माके ज्ञान मिथ्या होते हैं॥ ३१॥

इसपर शङ्काकारका कहना है कि जैसे सम्यग्दृष्टि मतिज्ञानके द्वारा रूप रस वगैरहको जानता है वैसे ही मिथ्यादृष्टि कुमति ज्ञानके द्वारा जानता है। जैसे सम्यग्दृष्टि श्रुतज्ञानके द्वारा पदार्थों-को जानकर दूसरोंको उपदेश देता है, वैसे ही मिथ्यादृष्टि कुश्रुत ज्ञानके द्वारा जानकर दूसरोंको उपदेश देता है। तथा जैसे सम्यग्दृष्टि अवधिज्ञानके द्वारा पदार्थोंका निश्चय करता है वैसे ही मिथ्या-दृष्टि कुअवधि (विभंग ज्ञान) के द्वारा पदार्थोंका निश्चय करता है। इस तरह जब मिथ्यादृष्टिके रूप आदि विषयोंको ग्रहण करनेमें कोई विपरीतता नहीं देखी जाती तब उसके ज्ञानोंको क्यों मिथ्या कहा जाता है?

इस शङ्काका निराकरण करनेके लिए सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥ ३२ ॥

अर्थ–सत् अर्थात् विद्यमान और असत् अर्थात् अविद्यमान। अथवा सत् यानी अच्छा और असत् यानी बुरा। मिथ्यादृष्टि सत् और असत्के भेदको नहीं जानता और उन्मत्त पुरुषकी तरह अपनी रुचिके अनुसार वस्तुको ग्रहण करता है। जैसे, मदिरा पीकर उन्मत्त हुआ मनुष्य कभी माताको पत्नी कहता है और कभी पत्नीको माता कहता है। कभी-कभी पत्नीको पत्नी और माताको माता भी कह बैठता है फिर भी वह ठीक समझ कर ऐसा नहीं कहता। इसी तरह मिथ्यादृष्टि भी घट पट आदि पदार्थोंको घट पट आदि ही जानता है, किन्तु मिथ्यात्वका उदय होनेसे यथार्थ वस्तुस्वरूपका ज्ञान उसे नहीं है। इसीसे उसका ज्ञान मिथ्या माना जाता है। ॥ ३२ ॥

इस तरह प्रमाणका कथन करके अब नयके भेद बतलाते हैं–

नैगम-संग्रहव्यवहार-र्जुसूत्र-शब्द-समभिरूढैवंभूता नयाः ॥ ३३ ॥

अर्थ–नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ये सात नय हैं।

विशेषार्थ–इन सात नयोंका स्वरूप इस प्रकार है–एक द्रव्य अपनी भूत, भविष्यत् और वर्तमान पर्यायोंसे जुदा नहीं है, बल्कि त्रिकालवर्ती पर्यायोंके समूहका नाम ही द्रव्य है। अतः जो भूत और भविष्यत् पर्यायोंमें वर्तमानका संकल्प करता है या वर्तमानमें जो पर्याय पूर्ण नहीं हुई उसे पूर्ण मानता है उस ज्ञानको तथा वचनको नैगमनय कहते हैं। जैसे एक मनुष्य कुल्हाड़ा लेकर वनकी ओर जाता है। उसे देखकर कोई पूछता है कि आप किस लिए वन जा रहे हैं? तो वह उत्तर देता है–मैं इन्द्र लेनेके लिए जा

रहा हूँ। किन्तु वास्तवमें वह लकड़ी लेने जा रहा है परन्तु उसका संकल्प उस लकड़ीसे इन्द्रकी प्रतिमा बनानेका है। अतः वह अपने संकल्पमें ही इन्द्रका व्यवहार करता है। इसी तरह एक आदमी लकड़ी पानी वगैरह रख रहा है। उससे कोई पूछता है—आप क्या कर रहे हैं ? तो वह उत्तर देता है—मैं भात पका रहा हूँ। किन्तु उस समय वह भात पकानेकी तैयारी कर रहा है। पर चूँकि उसका संकल्प भात पकानेका है अतः जो पर्याय अभी निष्पन्न नहीं हुई है उसे वह निष्पन्न मानकर व्यवहार करता है। यह नैगमनय है। १।

अपनी अपनी जातिके अनुसार वस्तुओंका या उनकी पर्यायोंका एकरूपसे संग्रह करनेवाले ज्ञानको और वचनको संग्रह नय कहते हैं। जैसे 'द्रव्य' कहनेसे सब द्रव्योंका ग्रहण होता है, 'जीव' कहनेसे सब जीवोंका ग्रहण होता है। 'पुद्गल' कहनेसे सब पुद्गलोंका ग्रहण होता है। २।

संग्रह नयसे ग्रहण किये हुए पदार्थोंका विधिपूर्वक भेद करना व्यवहार नय है। जैसे 'द्रव्य' कहनेसे काम नहीं चल सकता। अतः व्यवहार नयकी आवश्यकता होती है। व्यवहारसे द्रव्यके दो भेद हैं—जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य। जीव और अजीव कहनेसे भी काम नहीं चलता। अतः जीवके दो भेद हैं—संसारी और मुक्त। संसारीके भी देव मनुष्य तिर्यञ्च आदि भेद हैं। अजीवके पुद्गल, धर्म, अधर्म आदि पाँच भेद हैं। पुद्गलके दो भेद हैं—अणु और स्कन्ध। इस प्रकार व्यवहार नय तबतक भेद करता जाता है जबतक भेद हो सकते हैं। ३।

भूत और भावि पर्यायोंको छोड़कर जो वर्तमान पर्यायको ही ग्रहण करता है उस ज्ञान और वचनको ऋजुसूत्र नय कहते हैं। वस्तु हर समय परिणमन करती रहती है। इसलिए वास्तवमें तो

एक पर्याय एक समय तक ही रहती है। उस एक समयवर्ती पर्यायकोअर्थ पर्याय कहते हैं। वह अर्थपर्याय ऋजुसूत्र नयका विषय है। किन्तु व्यवहारमें एक स्थूल पर्याय जबतक रहती है तबतक लोग उसे वर्तमान पर्याय कहते हैं। जैसे मनुष्य पर्यायि अपनी आयुपर्यन्त रहती है। ऐसी स्थूल पर्यायको ग्रहण करनेवाला ज्ञान और वचन स्थूल ऋजुसूत्र नय कहा जाता है। ४।

लिंग, संख्या, साधन आदिके व्यभिचारको दूर करनेवाले ज्ञान और वचनको शब्दनय कहते हैं। भिन्न-भिन्न लिंगवाले शब्दोंका एक ही वाच्य मानना लिंग व्यभिचार है। जैसे–तारका और स्वातिका, अवगम और विद्याका, वीणा और वाद्यका एक ही वाच्य मानना। विभिन्न वचनोंमें प्रयुक्त होनेवाले शब्दोंका एक ही वाच्य मानना वचन व्यभिचार है। जैसे, आपः और जलका तथा दाराः और स्त्री का एक ही वाच्य मानना। इसी तरह मध्यम पुरुषका कथन उत्तम पुरुषकी क्रियाके द्वारा करना पुरुष व्यभिचार है। 'होने वाला काम हो गया' ऐसा कहना काल व्यभिचार है क्योंकि 'हो गया' तो भूतकालको कहता है और 'होनेवाला' आगामी कालको कहता है। इस तरहका व्यभिचार शब्द नयकी दृष्टिमें उचित नहीं है। जैसा शब्द कहता है वैसा ही अर्थमें भेद मानना इस नयका विषय है। अर्थात यह नय शब्दमें लिंग भेद, वचन भेद, कारक भेद, पुरुष भेद और काल भेद वगैरहके होनेसे उसके अर्थमें भेदका होना मानता है। ५।

लिंग आदिका भेद न होनेपर भी शब्द भेदसे अर्थका भेद माननेवाला समभिरूढ़ नय है। जैसे इन्द्र, शक्र और पुरन्दर ये तीनों शब्द स्वर्गके स्वामी इन्द्रके वाचक हैं और एक ही लिंगके हैं। किन्तु ये तीनों शब्द उस इन्द्रके भिन्न-भिन्न धर्मोंको कहते हैं, ऐसा इस नयका मन्तव्य है। वह आनन्द करता है इसलिए इन्द्र कहा

जाता है, शक्तिशाली होनेसे शक्र और नगरोंको उजाड़नेवाला होनेसे पुरन्दर कहा जाता है। इस तरह जो नय शब्द भेदसे अर्थ भेद मानता है वह समभिरूढ़ है। ६।

जिस शब्दका जिस क्रियारूप अर्थ हो, उस क्रियारूप परिणमें पदार्थको ही ग्रहण करनेवाला वचन और ज्ञान एवंभूत नय है। जैसे, इन्द्र शब्दका अर्थ आनन्द करना है। अतः स्वर्गका स्वामी जिस समय आनन्दोपभोग करता हो उसी कालमें उसे इन्द्र कहना, जब पूजन करता हो तो इन्द्र नहीं कहना, एवंभूतनय है। ७।

इस तरह यह सात नयोंका स्वरूप है। इनका विषय उत्तारोत्तार सूक्ष्म सूक्ष्म होता जाता है।

संक्षेपमें नयके दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। जो द्रव्यकी मुख्यतासे वस्तुको विषय करता है वह द्रव्यार्थिक नय है नैगम, संग्रह और व्यवहार ये द्रव्यार्थिक नय हैं और शेष चार पर्यायार्थिक नय हैं। विस्तारसे तो नयके बहुत भेद हैं—क्योंकि प्रत्येक वस्तुमें अनेक धर्म पाये जाते हैं। और एक एक धर्मको एक एक नय विषय करता है। किन्तु यदि कोई एक नयको ही पकड़कर बैठ जाय और उसीको सत्य समझ ले तो वह दुर्नय कहलायगा। आवश्यकतानुसार एकको मुख्य और शेषको गौण करते हुए सब नयोंकी सापेक्षतासे ही वस्तुका यथार्थ स्वरूप जाना जा सकता है॥ ३३॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे प्रथमोऽध्यायः



अथ द्वितीयोऽध्यायः

अब सम्यग्दर्शनके विषयरूपसे कहे गये सात तत्त्वोंमेंसे जीव तत्त्वका वर्णन करते हैं—

औपशमिक-क्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिक-पारिणामिकौ च ॥ १ ॥

अर्थ—औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक और परिणामिक ये जीवके पाँच भाव हैं। जैसे मैले पानीमें निर्मली मिला देनेसे मैल नीचे बैठ जाता है और जल स्वच्छ हो जाता है। वैसे ही कारणके मिलनेपर प्रतिपक्षी कर्मकी शक्तिके दब जानेसे आत्मामें निर्मलताका होना औपशमिक भाव है। ऊपरवाले दृष्टान्तमें उस स्वच्छ जलको, जिसके नीचे मैल बैठ गया है, किसी साफ बर्तनमें निकाल लेनेपर उसके नीचेका मैल दूर हो जाता है और केवल निर्मल जल रह जाता है। वैसे ही प्रतिपक्षी कर्मका बिलकुल अभाव होनेसे आत्मामें जो निर्मलता होती है वह क्षायिक भाव है। जैसे, उसी पानीको दूसरे बर्तनमें निकालते समय कुछ मैल यदि साथमें चला आये और आकर जलके नीचे बैठ जाय तो उस समय जलकी जैसी स्थिति होती है वैसे ही प्रतिपक्षी कर्मके सर्वघाती स्पर्द्धकोंका उदयाभावी क्षय और आगे उदयमें आनेवाले निषेकोंका सत्तामें उपशम होनेसे तथा देशघाती स्पर्द्धकोंका

उदय होते हुए जो भाव होता है उसे क्षयोपशमिक भाव कहते हैं। उसीका नाम मिश्र भाव है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके निमित्तसे कर्मका फल देना उदय है और उदयसे जो भाव होता है उसे औदयिक भाव कहते हैं। और जो भाव कर्मकी अपेक्षाके विना स्वभावसे ही होता है वह परिणामिक भाव है। इस तरह ये जीवके पांच भाव होते हैं॥ १॥

अब इन भावोंके भेद कहते हैं—

द्वि-नवा-ष्टादशै-कविंशति-त्रिभेदा यथाक्रमम् ॥ २ ॥

अर्थ—औपशमिक भावके दो भेद हैं। क्षायिक भावके नौ भेद हैं। मिश्र भावके अट्ठारह भेद हैं। औदयिक भावके इक्कीस भेद हैं और परिणामिक भावके तीन भेद हैं।

अब औपशमिक भावके दो भेद कहते हैं—

सम्यक्त्व-चारित्रे ॥ ३ ॥

अर्थ—औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र ये दो औपशमिक भावके भेद हैं। अनन्तानुबन्धी, क्रोध, मान, माया, लोभ तथा मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन सात कर्म-प्रकृतियोंके उपशमसे जो सम्यक्त्व होता है उसे औपशमिक सम्य-क्त्व कहते हैं। तथा समस्त मोहनीय कर्मके उपमशसे औपशमिक चारित्र होता है।

विशेषार्थ—उपशम सम्यक्त्वके दो भेद हैं—प्रथमोपशम सम्यक्त्व और द्वितीयोपशम सम्यक्त्व। पहले मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे छूटने पर जो उपशम सम्यक्त्व होता है उसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते हैं और उपशम श्रेणी चढ़ते समय क्षायोपशमिक सम्यक्त्वसे जो उपमश सम्यक्त्व होता है उसे द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं। प्रथमोपशम सम्यक्त्व होने से पहले मिथ्यात्व गुणस्थानमें

पाँच लब्धियाँ होती हैं—क्षयोपशम लब्धि, विशुद्धि लब्धि, देशना लब्धि प्रायोग्य, लब्धि और करण। इनमें से प्रारम्भकी चार लब्धियाँ तो भव्य और अभव्य दोनोंके हो जाती हैं किन्तु करण लब्धि भव्यके ही होती है तथा जब सम्यक्त्व होना होता है तभी होती है। जब अशुभ कर्म प्रति समय अनन्त गुनी कम कम शक्तिको लिये हुए उदयमें आते हैं अर्थात् पहले समयमें जितना फल दिया, दूसरे समयमें उससे अनन्त गुना कम, तीसरे समयमें उससे अनन्त गुना कम, इस तरह प्रति समय अनन्त गुना घटता हुआ उदय जिस कालमें होता है तब क्षयोपशम लब्धि होती है। क्षयोपशम लब्धिके प्रभावसे धर्मानुराग रूप शुभ परिणामोंका होना विशुद्धि लब्धि है। आचार्य वगैरहके द्वारा उपदेशका लाभ होना देशना लब्धि है। किन्तु जहाँ उपदेश देनेवाला न हो, जैसे चौथे आदि नरकोंमें, वहाँ पूर्व भवमें सुने हुए उपदेशको धारणाके बलपर सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है। इन तीनों लब्धिवाला जीव प्रति समय अधिक अधिक विशुद्ध होता हुआ आयु कर्मके सिवा शेष कर्मोंकी स्थिति जब अन्तः कोटा कोटि सागर प्रमाण बांधता है और विशुद्ध परिणामोंके कारण वह बंधी हुई स्थिति संख्यात हजार सागर कम हो जाती है उसे प्रायोग्य लब्धि कहते हैं। पाँचवी कारण लब्धिमें अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण ये तीन तरहके परिणाम कषायोंकी मन्दताको लिये हुए क्रमवार होते हैं। इनमेंसे अनिवृत्ति करणके अन्तिम समयमें पूर्वोक्त सात प्रकृतियोंका उपशम होनेसे उपशम सम्यक्त्व प्रकट हो जाता है तथा समस्त मोहनीयका उपशम होनेसे ग्यारहवें गुणस्थानमें औपशमिक चारित्र होता है॥ ३॥

अब क्षायिक भावके नौ भेद कहते हैं—

ज्ञान-दर्शन-दान-लाभ-भोगोपभोग-वीर्याणि च ॥ ४ ॥

अर्थ—केवल ज्ञान, केवल दर्शन, क्षायिक दान, क्षायिक-लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य तथा 'च' शब्दसे क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र, ये नौ क्षायिक भाव हैं।

विशेषार्थ—ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मके अत्यन्त क्षय होनेसे केवलज्ञान और केवलदर्शन होते हैं। दानान्तराय कर्मका अत्यन्त क्षय होनेसे दिव्यध्वनि वगैरहके द्वारा अनन्त प्राणियोंका उपकार करने वाला क्षायिक अभय दान होता है। लाभान्तरायका अत्यन्त क्षय होनेसे, भोजन न करने वाले केवली भगवानके शरीरको बल देने वाले जो परम शुभ सूक्ष्म नोकर्म पुद्गल प्रति समय केवलीके द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, जिनसे केवलीका औदारिक शरीर विना भोजनके कुछ कम एक पूर्व कोटी वर्ष तक बना रहता है, वह क्षायिक लाभ है। भोगान्तरायका अत्यन्त क्षय होनेसे सुगन्धित पुष्पोंकी वर्षा, मन्द सुगन्ध पवनका बहना आदि, क्षायिक भोग है। उपभोगान्तराय कर्मका अत्यन्त क्षय होनेसे सिंहासन, तीन छत्र, भामण्डल, आदिका होना, क्षायिक उपभोग है। वीर्यान्तराय कर्मका अत्यन्त क्षय होनेसे क्षायिकवीर्य होता है। मोहनीय कर्मकी ऊपर कहीं सात प्रकृतियोंके क्षयसे क्षायिक सम्यक्त्व होता है। और समस्त मोहनीय कर्मके अभावसे क्षायिक चारित्र प्रकट होता है। यहाँ इतना विशेष जनना कि अरहन्त अवस्थामें ये क्षायिक दान वगैरह शरीर नामकर्म और तीर्थङ्कर नामकर्मके रहते हुए होते हैं। इसीसे सिद्धोंमें ये भाव इस रूपमें नहीं होते, क्यों कि सिद्धोंमें किसी भी कर्मका सद्भाव नहीं है। फिर भी जब सिद्धोंके सब कर्मोंका क्षय हो गया है तो कर्मोंके क्षयसे होने वाले क्षायिक दान आदि भाव होने चाहिये ही। इसलिए अनन्तवीर्य और बाधा रहित अनन्त सुखके रूपमें ही ये भाव सिद्धोंमें पाये जाते हैं॥ ४॥

अब क्षायोपशमिक भावके अठारह भेद बतलाते हैं—

ज्ञानाज्ञान-दर्शन-लब्धयश्चतुस्त्रि-त्रि-पंचभेदाः सम्यक्त्व-चारित्र-संयमासंयमाश्च ॥ ५ ॥

अर्थ—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय ये चार ज्ञान, कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ये तीन अज्ञान, चक्षु इन्द्रियके द्वारा पदार्थोंका सामान्य ग्रहण रूप चक्षु दर्शन, शेष इन्द्रियोंके द्वारा पदार्थोंका सामान्य ग्रहणरूप अचक्षुदर्शन, और अवधि ज्ञानसे पहले होनेवाला सामान्य ग्रहण रूप अवधि दर्शन ये तीन दर्शन, अन्तराय कर्मके क्षयोपशमसे होने वाली दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये पाँच लब्धियाँ, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, सराग चारित्र और संयमासंयम अर्थात् देश व्रत, ये अट्ठारह भाव क्षायोपशमिक हैं, क्यों कि ये भाव अपने प्रतिपक्षी कर्मके क्षयोपशमसे होते हैं ॥ ५ ॥

अब औदयिक भावके इक्कीस भेद कहते हैं—

गति-कषाय-लिङ्ग-मिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैक-षड्भेदाः ॥ ६ ॥

अर्थ—चार गति, चार कषायें, तीन लिंग अर्थात् वेद, एक मिथ्यादर्शन, एक अज्ञान, एक असंयम, एक असिद्धत्व और छै लेश्याएं, ये औदयिक भावके इक्कीस भेद हैं।

विशेषार्थ—चार गतियाँ-नरक गति, तिर्यञ्च गति, मनुष्य गति और देव गति, ये गतिनाम कर्मके उदयसे होती हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाएं चारित्र मोहनीयके भेद कषाय-वेदनीयके उदय से होती हैं। लिंगके दो भेद हैं—द्रव्यलिंग और भावलिंग। शरीरमें होने वाले स्त्री और पुरुष के चिन्ह आदिको द्रव्य लिंग कहते हैं। द्रव्य लिंग नाम कर्मके उदयसे होता है। अतः उसका यहाँ अधिकार नहीं है; क्यों कि यहाँ आत्माके भावोंका कथन है। अतः स्त्री-पुरुष और दोनोंसे रमण करनेकी अभिलाषा रूप जो भाव

वेद है उसीका यहाँ अधिकार है। सो चारित्र मोहनीयका भेद नो-कपाय है और नो-कपायके भेद स्त्री वेद, पुरुपवेद और नपुंसक वेद कर्मके उदयसे स्त्री लिंग, पुरुप लिंग और नपुंसक लिंग होते हैं। दर्शनमोहके उदयसे तत्त्वार्थका श्रद्धान न करने रूप मिथ्यादर्शन भाव होता है। ज्ञानावरण कर्मके उदयसे न जानने रूप अज्ञान भाव होता है। चारित्र मोहके उदयसे प्राणियोंकी हिंसा और इन्द्रियोंके विपयोंसे विरक्त न होने रूप असंयत भाव होता है। कर्म मात्रका उदय होनेसे सिद्ध पर्यायकी प्राप्ति न होने रूप असिद्धत्व भाव होता है।

लेश्या दो प्रकारकी होती है—द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या। जीवके भावोंका अधिकार होनेसे यहां द्रव्य लेश्याका अधिकार नहीं है। कपायोंके उदयसे रंजित मन वचन और काय की प्रवृत्तिको भावलेश्या कहते हैं। उसके छै भेद हैं—कृष्ण, नील, कापोत, पीत पद्म तथा शुक्ल। सो आत्माके भावोंमें अशुद्धताकी वेशी-कसीको ले कर कृष्ण आदि शब्दोंका उपचार किया है।

शंका—आगममें उपशान्तकपाय, क्षीणकपाय और सयोग-केवली नामके ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानोंमें लेश्या कही है, किन्तु इन गुणस्थानोंमें कपायका उदय नहीं है। तब वहां लेश्या औदयिक कैसे है? अथवा वहां लेश्या ही कैसे है? क्योंकि कपायसे रंजित योगकी प्रवृत्तिका नाम लेश्या है?

समाधान—इन गुणस्थानोंमें कपायका उदय न होने पर भी पूर्वभाव-प्रज्ञापन-नयकी अपेक्षासे लेश्या कही है। अर्थात् पहले यही योग कपायसे रंजित था तब लेश्या कही थी। अब इन गुण-स्थानोंमें कपायका उदय तो रहा नहीं, परन्तु योग वही है जो पहले कपायके रंगमें रंगा था। अतः उपचारसे लेश्या कही है।

अयोगकेवली नामके चौदहवें गुणस्थानमें योगका भी अभाव हो जानेसे लेश्या नहीं बतलायी है।

शङ्का–औदयिक भाव तो और भी अनेक हैं। जैसे अज्ञान औदयिक है वैसे ही अदर्शन भी औदयिक है। निद्रानिद्रा वगैरह भी औदयिक हैं। वेदनीयके उदयसे होनेवाला सुख दुःख भी औदयिक है। हास्य आदि छै नोकषाय भी औदयिक हैं। आयुके उदयसे एक भवमें रहना भी औदयिक है। गोत्रकर्मके उदयसे होनेवाले नीच-उच्च गोत्र भी औदयिक हैं। नाम कर्मके उदयसे होनेवाली जाति वगैरह भी औदयिक हैं। इन सबका ग्रहण यहाँ क्यों नहीं किया?

समाधान–इन सबका अन्तर्भाव इन्हीं इक्कीस भावोंमें हो जाता है। दर्शनावरणके उदयसे होनेवाले अदर्शन वगैरहका अन्तर्भाव मिथ्यादर्शनमें किया है। हास्य वगैरह वेदके साथी हैं अतः उन्हें वेदमें गर्भित कर लिया है। वेदनीय, आयु और गोत्रके उदयसे होनेवाले भावोंका अन्तर्भाव गतिमें कर लिया है क्योंकि गतिके ग्रहणसे अघातियाकर्म उदयसे होनेवाले भाव ले लिये गये हैं। इसी प्रकार अन्य भावोंका भी अन्तर्भाव कर लेना चाहिये ॥६॥

अब परिमाणिक भावके तीन भेद बतलाते हैं—

जीव-भव्याभव्यत्वानि च ॥ ७ ॥

अर्थ–जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन जीवके असाधारण पारिणामिक भाव हैं। ये भाव जीवके सिवा अन्य द्रव्योंमें नहीं होते। तथा इनके होनेमें किसी कर्मका उदय वगैरह भी कारण नहीं है। अतः ये असाधारण पारिणामिक भाव कहलाते हैं। वैसे साधारण पारिणामिक भाव तो अस्तित्व, नित्यत्व, प्रदेशवत्त्व

आदि बहुतसे हैं, किन्तु वे भाव अन्य अजीव द्रव्योंमें भी पाये जाते हैं। इसीलिए उनको 'च' शब्दसे ग्रहण कर लिया है। जीवत्व नाम चैतन्यका है। चैतन्य जीवका स्वाभाविक गुण है। इसलिए वह पारिणामिक है। जिसमें सम्यग्दर्शन आदि परिणामोंके होनेकी योग्यता है वह भव्य है और जिसमें वैसी योग्यताका अभाव है वह अभव्य है। ये दोनों बातें भी स्वाभाविक ही हैं। जैसे जिन उड़द मूंग वगैरहमें पकनेकी शक्ति होती है, वे निमित्त मिलनेपर पक जाते हैं और जिनमें वह शक्ति नहीं होती वे कितनी ही आग जलानेपर भी नहीं पकते। यही दशा जीवोंकी है ॥ ७ ॥

इस तरह जीवके पाँच भाव होते हैं।

[शङ्का—जीवके ये भाव नहीं हो सकते; क्योंकि ये भाव कर्मबन्धकी अपेक्षासे बतलाये हैं। और आत्मा अमूर्तिक है, अतः अमूर्तिक आत्मा मूर्तिक कर्मोंसे नहीं बँध सकता।

समाधान—आत्मा एकान्तसे अमूर्तिक ही नहीं है किन्तु मूर्तिक भी है। कर्मबन्धकी अपेक्षासे तो मूर्तिक है, क्योंकि अनादि कालसे संसारी आत्मा कर्मपुद्गलोंसे दूध-पानीकी तरह मिला हुआ है, कभी भी कर्मसे जुदा नहीं हुआ। तथा शुद्ध स्वरूपकी अपेक्षासे अमूर्ति है, क्योंकि यद्यपि कर्म और आत्मा दूध और पानीकी तरह एक हो रहे हैं फिर भी अपने चैतन्य स्वभावको छोड़कर आत्मा कभी भी पुद्गलमय नहीं हो जाता। अतः अमूर्तिक है।

शङ्का—जब संसार अवस्थामें आत्मा कर्म पुद्गलोंके साथ दूध-पानीकी तरह मिला हुआ है तो उसको हम कैसे जान सकते हैं कि यह आत्मा है?

समाधान—बन्धकी अपेक्षासे आत्मा और पुद्गल मिले होनेपर

भी दोनोंका लक्षण भिन्न भिन्न है। उस लक्षणसे आत्माकी पहचान हो सकती है।]

इसीलिए सूत्रकार जीवका लक्षण बतलाते हैं—

उपयोगो लक्षणम् ॥८॥

अर्थ—जीवका लक्षण उपयोग है। चैतन्यके होनेपर ही होनेवाले परिणामको उपयोग कहते हैं। यह उपयोग सब जीवोंमें पाया जाता है और जीवके सिवा अन्य द्रव्योंमें नहीं पाया जाता ॥ ८ ॥

अब उपयोगके भेद कहते हैं—

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥ ९ ॥

अर्थ—वह उपयोग दो प्रकारका है—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। ज्ञानोपयोगके आठ भेद हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान और कुमति, कुश्रुत और कुअवधि ये तीन अज्ञान। तथा दर्शनोपयोगके चार भेद हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

विशेषार्थ—दर्शन और ज्ञानमें साकार और अनाकार का भेद है। पदार्थका आकार न ले कर जो सामान्य ग्रहण होता है वह दर्शन है। क्योंकि एक पदार्थसे हटकर जब आत्मा दूसरे पदार्थको जाननेके अभिमुख होता है तो पदार्थ और इन्द्रियका सम्बन्ध होते ही वस्तुके आकार वगैरहका ग्रहण नहीं होता। अतः दर्शन निराकार है। उसके पश्चात् पदार्थके आकार वगैरहके जाननेको ज्ञान कहते हैं। छद्मस्थके तो दर्शनके पश्चात् ज्ञान होता है; क्योंकि छद्मस्थ पदार्थोंको क्रमसे जानता है; किन्तु केवली भगवानके दर्शन और ज्ञान दोनों एक साथ होते हैं। दर्शन और ज्ञानमें ज्ञान प्रधान है इसलिए सूत्रमें उसके भेद पहले गिनाये हैं।

[शङ्का—जैसे अवधि ज्ञानके पहले अवधि दर्शन माना है वैसे ही मनःपर्यय ज्ञानके पहले मनःपर्यय दर्शन क्यों नहीं माना ?

समाधान—प्रथम तो आगममें दर्शनावरण कर्मके भेदोंमें मनःपर्यय दर्शनावरण नामका कोई भेद नहीं गिनाया। जिसके क्षयोपशमसे मनःपर्यय दर्शन हो। दूसरे, मनःपर्यय ज्ञान अपने विषयको अवधि ज्ञानकी तरह सीधा ग्रहण नहीं करता। किन्तु मनका सहारा पा कर ग्रहण करता है। अतः जैसे मन अतीत और अनागत पदार्थका विचार ही करता है। वैसे ही मनःपर्यय ज्ञान भी अतीत अनागतको जानता ही है। तथा वर्तमान पदार्थको भी विशेष रूपसे ही जानता है। तथा मनके निमित्तसे होने वाले मतिज्ञानके पश्चात् मनःपर्यय ज्ञान होता है। इसलिए भी मनः-पर्यय दर्शन आवश्यक नहीं है] ॥ ९ ॥

आगे जीवके भेद बतलाते हैं—

संसारिणो मुक्ताश्च ॥ १० ॥

अर्थ—जीव दो प्रकारके हैं—संसारी और मुक्त।

विशेषार्थ—संसारका मतलब चक्कर लगाना है। इसीको परिवर्तन कहते हैं। परिवर्तन पाँच प्रकारका होता है—द्रव्य परि-वर्तन, क्षेत्र परिवर्तन, काल परिवर्तन, भव परिवर्तन और भाव परिवर्तन। कर्म और नोकर्म पुद्गलोंको अमुक क्रमसे ग्रहण करने और भोग कर छोड़ देने रूप परिभ्रमणका नाम द्रव्य परिवर्तन है। लोकाकाशके सब प्रदेशोंमें अमुक क्रमसे उत्पन्न होने और मरने रूप परिभ्रमणका नाम क्षेत्र परिवर्तन है। क्रमवार उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके सब समयोंमें जन्म लेने और मरने रूप परि-भ्रमणका नाम काल परिवर्तन है। नरकादि गतियोंमें बार बार जन्म

हो कर जघन्यसे उत्कृष्ट पर्यन्त सब आयुको भोगने रूप परिभ्रमणका नाम भव परिवर्तन है। इतना विशेष है कि देव गतिमें इकतीस सागर तककी ही आयु भोगनी चाहिए। सब योगस्थानों और कषाय-स्थानोंके द्वारा क्रमसे ज्ञानावरण आदि सब कर्मोंकी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट स्थितिको भोगने रूप परिभ्रमणको भाव परिवर्तन कहते हैं। संक्षेपमें यह पाँच परिवर्तनोंका निर्देश मात्र है। इस पञ्च परिवर्तन रूप संसारसे जो जीव छूट जाते हैं वे मुक्त कहलाते हैं। संसारी पूर्वक ही मुक्त जीव होते हैं। इसलिए सूत्रमें संसारीको पहले रक्खा है ॥१०॥

अब संसारी जीवके भेद कहते हैं—

समनस्काऽमनस्काः ॥ ११ ॥

अर्थ—संसारी जीव दो प्रकारके होते हैं—मन सहित और मन रहित। मन सहित जीवोंको संज्ञी कहते हैं। संज्ञी जीव शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं, बुलानेपर आ जाते हैं और इशारे वगैरहको समझ लेते हैं। मन रहित जीवोंको असंज्ञी कहते हैं। असंज्ञी जीव शिक्षा उपदेश वगैरह ग्रहण नहीं कर सकते। इसीसे अमनस्कको सूत्रमें पीछे रक्खा और समनस्कको पहले रक्खा है ॥ ११ ॥

आगे संसारी जीवके और भी भेद बतलाते हैं—

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥ १२॥

अर्थ—संसारी जीव त्रस और स्थावरके भेदसे दो प्रकारके हैं। जिसके त्रस नाम कर्मका उदय होता है वह जीव त्रस कहलाता है और जिसके स्थावर नाम कर्मका उदय होता है वह जीव स्थावर कहलाता है।

विशेषार्थ—कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि जो चले फिरें वे त्रस हैं और जो एक ही स्थानपर ठहरे रहें वे स्थावर हैं। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे जो जीव गर्भमें हैं या अण्डेमें हैं, वा चुप चाप पड़े सोते हैं अथवा मूर्छित पड़े हैं वे त्रस नहीं कहे जा सकेंगे। तथा हवा, आग और पानी स्थावर हैं किन्तु इनमें हलन चलन वगैरह देखा जाता है अतः वे त्रस कहे जायेंगे। इसलिए चलने और ठहरे रहनेकी अपेक्षा त्रस स्थावरपना नहीं है किन्तु त्रस और स्थावर नाम कर्मकी अपेक्षासे ही है। इस सूत्रमें भी त्रस शब्दको स्थावरसे पहले रखा है क्योंकि त्रस स्थावरसे पूज्य है तथा अल्प अक्षर वाला भी है॥ १२॥

स्थावरका अधिक कथन नहीं है। इसलिए सूत्रकार क्रमका उल्लंघन करके त्रससे पहले स्थावरके भेद कहते हैं—

पृथिव्यप्तेजो-वायु-वनस्पतयः स्थावराः ॥ १३ ॥

अर्थ—पृथिवी, अप्, तेज, वायु और वनस्पति ये पाँच स्थावर हैं। इन स्थावर जीवोंके चार प्राण होते हैं—स्पर्शन इन्द्रिय, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास।

विशेषार्थ—आगममें इन पाँचों स्थावरोंमेंसे प्रत्येकके चार चार भेद बतलाये हैं। जैसे, पृथिवी, पृथिवीकाय, पृथिवीकायिक और पृथिवी-जीव। जो स्वयं ही बनी हुई अचेतन जमीन है उसे पृथिवी कहते हैं। जिस पृथिवीमेंसे जीव निकल गया उसे पृथिवीकाय कहते हैं। जीव सहित पृथिवीको पृथिवीकायिक कहते हैं। और जो जीव पहले शरीरको छोड़ कर पृथिवीकायमें जन्म लेनेके लिए जा रहा है, जब तक वह पृथिवीको अपने शरीर रूपसे ग्रहण नहीं कर लेता, तबतक उस जीवको पृथिवी जीव कहते हैं। इसी तरह अप् (जल) तेज, वगैरहके भी भेद जान लेने चाहिये॥ १३॥

अब त्रसके भेद कहते हैं—

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥ १४ ॥

अर्थ—दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीवोंको त्रस कहते हैं। दो इन्द्रिय जीवके छै प्राण होते हैं—स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ, कायबल, वचनबल, आयु और श्वासोच्छ्‌वास। तेइन्द्रियके एक घ्राणेन्द्रियके बढ़ जानेसे सात प्राण होते हैं। चौइन्द्रियके एक चक्षुइन्द्रियके बढ़ जानेसे आठ प्राण होते हैं। पञ्चेन्द्रिय असैनीके एक श्रोत्र इन्द्रियके बढ़ जानेसे नौ प्राण होते हैं। और सैनी पंचेन्द्रियके मनो-बलके बढ़ जानेसे दस प्राण होते हैं ॥१४॥

अब इन्द्रियोंकी संख्या बतलाते हैं—

पञ्चेद्रियाणि ॥ १५ ॥

अर्थ—इन्द्रिय पाँच होती हैं ॥ १५ ॥

इन इन्द्रियोंके भेद कहते हैं—

द्विविधानि ॥ १६ ॥

अर्थ—इन्द्रियां दो प्रकारकी होती हैं—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय ॥ १६ ॥

अब द्रव्येन्द्रियका स्वरूप कहते हैं—

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥ १७ ॥

अर्थ—निर्वृत्ति और उपकरणको द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। कर्मके द्वारा होने वाली रचना विशेषको निर्वृत्ति कहते हैं। निर्वृत्ति दो प्रकारकी होती है—आभ्यन्तर निर्वृत्ति और बाह्य निर्वृत्ति। उत्सेधांगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण विशुद्ध आत्म प्रदेशोंकी इन्द्रियोंके

आकार रचना होनेको आभ्यन्तर निर्वृत्ति कहते हैं। तथा उन आत्म प्रदेशोंके प्रतिनियत स्थानमें पुद्गलोंकी इन्द्रियके आकार रचना होनेको बाह्य निर्वृत्ति कहते हैं। निर्वृत्तिका उपकार करने वाले पुद्गलोंको उपकरण कहते हैं। उपकरणके भी दो भेद होते हैं—आभ्यन्तर और बाह्य। जैसे नेत्रोंमें जो काला और सफेद मण्डल है वह आभ्यन्तर उपकरण है और पलक वगैरह बाह्य उपकरण हैं॥ १७॥

आगे भावेन्द्रियका स्वरूप कहते हैं—

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥१८॥

अर्थ—लब्धि और उपयोगको भावेन्द्रिय कहते हैं। ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम विशेषको लब्धि कहते हैं। इस लब्धिके होने पर ही जीवके द्रव्येन्द्रियोंकी रचना होती है। तथा लब्धिके निमित्तसे आत्माका जो परिणमन होता है उसे उपयोग कहते हैं।

विशेषार्थ—आशय यह है कि जैसे किसी जीवमें देखनेकी शक्ति तो है किन्तु उसका उपयोग दूसरी ओर होनेसे वह सामने स्थित वस्तुको भी नहीं देख सकता है। इसी तरह किसी वस्तुको जाननेकी इच्छाके होते हुए भी यदि क्षयोपशम न हो तो नहीं जान सकता। अतः ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे जो आत्मामें जाननेकी शक्ति प्रकट होती है वह तो लब्धि है और उसके होने पर आत्मा जो ज्ञेय पदार्थकी ओर अभिमुख होता है वह उपयोग है। लब्धि और उपयोगके मिलनेसे ही पदार्थोंका ज्ञान होता है। ॥ १८॥

इंद्रियोंके नाम निम्न प्रकार हैं—

स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुःश्रोत्राणि ॥ १९ ॥

अर्थ—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र, ये पांच इन्द्रियोंके नाम हैं।

विशेषार्थ—वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेसे तथा अंगोपांग नामकर्मका उदय होनेसे आत्मा जिसके द्वारा पदार्थको छू कर जानता है उसे स्पर्शन इन्द्रिय कहते हैं। जिसके द्वारा आत्मा रसको ग्रहण करता है उसे रसना इन्द्रिय कहते हैं। जिसके द्वारा गन्धको ग्रहण करता है उसे घ्राण इन्द्रिय कहते हैं। जिसके द्वारा देखता है उसे चक्षु इन्द्रिय कहते हैं और जिसके द्वारा सुनता है उसे श्रोत्र इन्द्रिय कहते हैं॥ १६ ॥

अब इन इन्द्रियोंके विषय बतलाते हैं—

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्दास्तदर्थाः ॥ २० ॥

अर्थ—स्पर्शन इन्द्रियका विषय स्पर्श है। रसना इन्द्रियका विषय रस है। घ्राण इन्द्रियका विषय गन्ध है। चक्षु इन्द्रियका विषय रूप है और श्रोत्र इन्द्रियका विषय शब्द है। ऐसे ये पांचों इन्द्रियोंके पाँच विषय हैं। प्रत्येक इन्द्रिय अपने अपने विषयको ही ग्रहण करती है, एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रियके विषयको ग्रहण नहीं कर सकती ॥ २० ॥

शंका—मन उपयोगमें सहायक है या नहीं ?

समाधान—सहायक है, विना मनकी सहायताके इन्द्रियाँ अपने अपने विषयोंमें प्रवृत्ति नहीं करतीं।

शंका—तो क्या मनका काम इतना ही है कि वह इन्द्रियोंकी सहायता करे, या वह स्वयं भी कुछ जानता है ?

आचार्य इसके समाधानके लिए सूत्र कहते हैं—

श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥ २१ ॥

अर्थ—अनिन्द्रिय अर्थात् मन और श्रुत अर्थात् श्रुतज्ञानका

विषयभूत पदार्थ। श्रुत ज्ञानका विषयभूत पदार्थ मनका विषय है। अर्थात् श्रुतज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेपर मनकी सहायतासे ही आत्मा श्रुतज्ञानके विषयको जानता है। अतः श्रुतज्ञानका होना मनका प्रमुख काम है। अपने इस काममें वह किसी इन्द्रियकी सहायता नहीं लेता॥ २१॥

अब स्पर्शन इन्द्रिय किसके होती है सो बतलाते हैं—

वनस्पत्यन्तानामेकम्॥ २२॥

अर्थ—पृथिवी कायसे लेकर वनस्पति काय पर्यन्त जीवोंके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है॥ २२॥

आगे शेष इन्द्रियोंके स्वामियोंको बतलाते हैं—

कृमि-पिपीलिका-भ्रमर-मनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि॥ २३॥

अर्थ—कृमि आदिके एक एक इन्द्रिय अधिक होती है। अर्थात् लट, शंख, जोंक वगैरहके स्पर्शन और रसना, ये दो इन्द्रियां होती हैं। चींटी, खटमल वगैरहके स्पर्शन, रसना, घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ होती हैं। भौंरा, मक्खी, डांस मच्छर वगैरहके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ होती हैं। और मनुष्य पशु, पक्षी वगैरहके पाँचों इन्द्रियाँ होती हैं॥ २३॥

अब संज्ञी जीवका स्वरूप बतलाते हैं—

संज्ञिनः समनस्काः॥ २४॥

अर्थ—मन सहित जीवोंको संज्ञी कहते हैं अतः मन रहित जीव असंज्ञी कहलाते हैं। एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, ते इन्द्रिय और चौ इन्द्रिय जीव तो सब असंज्ञी ही होते हैं। पञ्चेन्द्रियोंमें देव नारकी और मनुष्य संज्ञी ही होते हैं किन्तु तिर्यञ्च मन रहित भी होते हैं।

[शंका—मनका काम हित और अहितकी परीक्षा करके हितको

ग्रहण करना और अहितको छोड़ देना है। इसीको संज्ञा कहते हैं। अतः जब संज्ञा और मन दोनोंका एक ही अभिप्राय है तो 'संज्ञी' और 'समनस्क' का मतलब भी एक ही है। फिर सूत्रमें दोनों पद क्यों रखे? केवल 'संज्ञिनः' कहनेसे भी काम चल सकता है?

समाधान—यह आपत्ति ठीक नहीं है; क्योंकि प्रथम तो 'संज्ञा' शब्दके अनेक अर्थ हैं—संज्ञा नामको भी कहते हैं। अतः जितने नामवाले पदार्थ हैं वे सब संज्ञी कहलायें गे। संज्ञा ज्ञानको भी कहते हैं और ज्ञान सभी जीवोंमें पाया जाता है। अतः सभी संज्ञी कहे जायें गे। भोजन वगैरहकी इच्छाका नाम भी संज्ञा है जो सभी जीवोंमें पायी जाती हैं। अतः सभी संज्ञी हो जायेंगे। इसलिए जिसके मन है उसीको संज्ञी कहना उचित है। दूसरे, गर्भ अवस्थामें, मूर्छित अवस्थामें, सुप्त अवस्थामें हित अहितका विचार नहीं होता, अतः उस अवस्थामें संज्ञी जीव भी असंज्ञी कहे जायेंगे। किन्तु मनके होनेसे उस समय भी वे संज्ञी ही हैं। अतः संज्ञी और समनस्क दोनों पदोंको रखना ही उचित है] ॥ २४ ॥

शंका—जिस समय जीव पूर्व शरीरको छोड़ कर नया शरीर धारण करनेके लिए जाता है उस समय उनके मन तो रहता नहीं है। फिर वह कैसे गमन करता है?

इस शंका समाधान करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥ २५ ॥

अर्थ—'विग्रह' शब्दके दो अर्थ हैं। विग्रह अर्थात् शरीर; शरीरके लिए गमन करनेको विग्रहगति कहते हैं। अथवा विरुद्ध ग्रहण करनेको विग्रह कहते हैं। इसका आशय यह है कि संसारी जीव हमेशा कर्म और नोकर्मको ग्रहण करता रहता है, किन्तु विग्रह-

गतिमें कर्म पुद्गलोंका तो ग्रहण होता है, नोकर्म पुद्गलोंको ग्रहण नहीं होता। इसलिए उसको विरुद्ध ग्रहण कहा है। और विरुद्ध ग्रहण पूर्वक जो गमन होता है उसे विग्रहगति कहते हैं। तथा कार्मण शरीरको कर्म कहते हैं। उस कार्मण शरीरके द्वारा जो आत्माके प्रदेशोंमें कम्पन होता है उसको कर्मयोग कहते हैं। अतः सूत्रका अर्थ हुआ-विग्रह गतिमें कर्मयोग होता है। उस कर्म योगके द्वारा ही जीव नवीन कर्मोंको ग्रहण करता है 'तथा मृत्यु स्थानसे अपने जन्म लेनेके नये स्थान तक जाता है॥ २५॥

अब यह बताते हैं कि जीव और पुद्गलोंका गमन किस क्रमसे होता है—

अनुश्रेणि गतिः॥ २५॥

अर्थ—लोकके मध्यसे ले कर ऊपर, नीचे और तिर्यक् दिशामें आकाशके प्रदेशोंकी सीधी कतारको श्रेणी कहते हैं। जीवों और पुद्गलोंकी गति आकाशके प्रदेशोंकी पंक्तिके अनुसार ही होती है, पंक्तिको लांघ कर विदिशाओंमें गमन नहीं होता।

[शंका—यहाँ तो जीवका अधिकार है, पुद्गलका ग्रहण यहाँ कैसे किया ?

समाधान— यहाँ 'विग्रहगतौ कर्मयोगः' सूत्रसे गतिका अधिकार है। फिर इस सूत्रमें 'गति' पदका ग्रहण पुद्गलका ग्रहण करनेके लिए ही किया गया है। तथा आगे 'अविग्रहा जीवस्य' इस सूत्रमें जीवका अधिकार होते हुए जो जीवका ग्रहण किया है उससे भी यही अर्थ निकलता है कि यहाँ पुद्गलकी गति भी बतलायी गयी है।

विशेषार्थ—यद्यपि यहाँ जीव और पुद्गलकी गति श्रेणीके अनुसार बतलायी है किन्तु इतना विशेष है कि सभी जीव पुद्गलोंकी

गति श्रेणीके अनुसार नहीं होती। जिस समय जीव मर कर नया शरीर धारण करनेके लिए जाता है उस समय उसकी गति श्रेणीके अनुसार ही होती है। तथा पुद्गलका शुद्ध परमाणु जो एक समयमें चौदह राजु गमन करता है वह भी श्रेणीके अनुसार ही गमन करता है। शेष गतियोंके लिए कोई नियम नहीं है ॥ २६॥]

अब मुक्त-जीवकी गति बतलाते हैं—

अविग्रहा जीवस्य ॥२७॥

अर्थ—मुक्त जीवकी गति मोड़े रहित होती है। अर्थात् मुक्त जीव श्रेणीके अनुसार ऊपर गमन करके एक समयमें ही सिद्ध क्षेत्रमें जा कर ठहर जाता है।

शङ्का—सूत्रमें तो केवल 'जीव' कहा है फिर उसका अर्थ मुक्त जीव कैसे ले लिया ?

समाधान—आगेके सूत्रमें 'संसारी' का ग्रहण किया है अतः इस सूत्रमें जीवसे मुक्त जीव लेना चाहिए ॥ २७॥

संसारी जीव जब परलोकको जाता है तो उसकी गति कैसे होती है, यह बतलाते हैं—

विग्रहवती च संसारिणः प्राक्चतुर्भ्यः ॥२८॥

अर्थ—संसारी जीवकी गति चार समयसे पहले मोड़े सहित होती है। अर्थात् संसारी जीव जब नया शरीर धारण करनेके लिए गमन करता है तो श्रेणिके अनुसार ही गमन करता है। किन्तु यदि मरण स्थानसे ले कर जन्म स्थान तक जानेके लिए सीधी श्रेणि नहीं होती तो स्थानके अनुसार एक, दो या तीन मोड़ लेता है। प्रत्येक मोड़में एक समय लगता है। अतः एक मोड़े वाली गतिमें

दूसरे समयमें जन्म स्थानपर पहुँचता है, दो मोड़े वाली गतिमें तीसरे समयमें और तीन मोड़े वाली गतिमें चौथे समयमें अपने जन्म स्थानपर पहुंच जाता है। सूत्रमें आये 'च' शब्दसे यह अर्थ लेना चाहिए कि संसारी जीवकी गति विना मोड़ेवाली भी होती है ॥ २८ ॥

आगे बतलाते हैं कि विना मोड़े वाली गतिमें कितना काल लगता है—

एक समयाऽविग्रहा ॥ २९ ॥

अर्थ—विना मोड़े वाली गतिमें एक समय लगता है। इसीको ऋजुगति कहते हैं ॥ २९ ॥

आगे विग्रह गतिमें आहारक और अनाहारकका नियम बतलाते हैं—

एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः ॥ ३० ॥

अर्थ—विग्रह गतिमें जीव एक समय, दो समय अथवा तीन समय तक अनाहारक रहता है। औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, इन तीन शरीर और छै पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गलोंके ग्रहण करनेको आहार कहते हैं। और शरीरके योग्य पुद्गलोंके ग्रहण न करनेको अनाहार कहते हैं। जो एक मोड़ा लेकर उत्पन्न होता है वह एक समय तक अनाहारक रहता है। जो दो मोड़ा लेकर उत्पन्न होता है वह दो समय तक अनाहारक रहता है और जो तीन मोड़े लेकर उत्पन्न होता है वह तीन समय तक अनाहारक रहता है। अर्थात् मोड़ेके समय अनाहारक रहता है। किन्तु जब मोड़ा समाप्त करके अपने उत्पत्ति स्थानके लिए सीधा गमन करता है उस समय आहारक हो जाता है ॥ ३० ॥

और आधेयका भेद है। योनि आधार है और जन्म आधेय है; क्योंकि सचित्त आदि योनियोंमें जीव सम्मूर्छन आदि जन्म लेकर उत्पन्न होता है।

विशेषार्थ—उदाहरणके रूपमें यहाँ कुछ जीवोंकी योनियाँ बतलाते हैं—उक्त नौ योनियोंमेंसे देव नारकियोंकी योनि अचित्त, शीत और उष्ण तथा संवृत होती है। गर्भ जन्मवालोंकी योनि, सचित्त अचित्त, शीत, उष्ण और शीतोष्ण तथा संवृतविवृत होती है। सम्मूर्छन जन्मवालोंकी योनि सचित्त, अचित्त और सचित्ताचित्त, शीत, उष्ण और शीतोष्ण होती है। इतना विशेष है कि तेजस्कायिक जीवोंकी उष्ण योनि ही होती है। तथा एकेन्द्रियोंकी संवृत योनि और विकलेन्द्रियोंकी विवृत योनि होती है। इस तरह सामान्यसे नौ योनियाँ होती हैं और विस्तारसे चौरासी लाख योनियाँ कही हैं॥ ३२॥

अब बतलाते हैं कि किन प्राणियोंका कौन जन्म होता है—

जरायुजाण्डज-पोतानां गर्भः॥ ३३॥

अर्थ—जरायुज, अण्डज और पोत इन तीन प्रकारके प्राणियोंके गर्भ जन्म होता है। जन्मके समय प्राणिके ऊपर जालकी तरह जो रुधिर मांसकी खोल लिपटी रहती है उसे जरायु या जेर कहते हैं। और उससे जो उत्पन्न होते हैं उन्हें जरायुज कहते हैं। जैसे मनुष्य, बैल वगैरह। जो जीव अण्डेसे उत्पन्न होते हैं उन्हें अण्डज कहते हैं—जैसे कबूतर आदि पक्षी। और जिसके ऊपर कुछ भी आवरण नहीं होता तथा जो योनिसे निकलते ही चलने फिरने लगता है उसे पोत कहते हैं, जैसे शेर वगैरह। इन तीनों प्रकारके प्राणियोंके गर्भ जन्म ही होता है॥ ३३॥

आगे बतलाते हैं कि उपपाद जन्म किसके होता है—

देवनारकाणामुपपादः॥ ३४॥

अर्थ–देवों और नारकियोंके उपपाद जन्म ही होता है ॥ ३४ ॥

आगे शेष जीवोंके कौन जन्म होता है यह बतलाते हैं—

शेषाणां सम्मूर्छनम् ॥ ३५ ॥

अर्थ–गर्भ जन्मवाले मनुष्य तिर्यञ्चों और उपपाद जन्मवाले देव नारकियोंके सिवा बाकीके एकेन्द्रियों, विकलेन्द्रियों और किन्हीं पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चोंके सम्मूर्छन जन्म ही होता है ॥ ३५ ॥

अब शरीरोंका वर्णन करते हैं—

औदारिक-वैक्रियिकाहारक-तैजस-कार्मणानि शरीराणि॥३६॥

अर्थ–औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण-ये पाँच शरीर हैं। स्थूल शरीरको औदारिक कहते हैं। जो एक, अनेक, सूक्ष्म, स्थूल, हल्का भारी आदि किया जा सके उसे वैक्रियिक शरीर कहते हैं। छठे गुणस्थानवर्ती मुनिके द्वारा सूक्ष्म पदार्थको जानने के लिए, अथवा संयमकी रक्षाके लिए, अन्य क्षेत्रमें वर्तमान केवली या श्रुत-केवलीके पास भेजनेको अथवा अन्य क्षेत्रके जिनालयोंकी वन्दना करनेके उद्देश्यसे जो शरीर रचा जाता है उसे आहारक शरीर कहते हैं। औदारिक आदि शरीरोंको कांति देनेवाला शरीर तैजस कहलाता है। और ज्ञानावरण आदि आठों कर्मोंके समूहको कार्मण शरीर कहते हैं ॥ ३६ ॥

जैसे औदारिक शरीर दिखायी देता है वैसे वैक्रियिक आदि शरीर क्यों नहीं दिखायी देते ? इसका उत्तर देते हैं—

परं परं सूक्ष्मम् ॥ ३७ ॥

अर्थ–औदारिकसे आगेके शरीर सूक्ष्म होते हैं। अर्थात्

औदारिकसे वैक्रियिक सूक्ष्म है, वैक्रियिकसे आहारक सूक्ष्म है, आहारकसे तैजस सूक्ष्म है और तैजससे कार्मण सूक्ष्म है ॥ ३७ ॥

यदि आगे आगेके शरीर सूक्ष्म हैं तो उनके बननेमें पुद्गलके परमाणु भी कम कम लगते होंगे? इस आशंकाको दूर करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ॥ ३८ ॥

अर्थ—यहाँ प्रदेश शब्दका अर्थ परमाणु है। परमाणुओंकी अपेक्षासे तैजससे पहलेके शरीर असंख्यात गुने, असंख्यात गुने हैं। अर्थात् औदारिक शरीरमें जितने परमाणु हैं उनसे असंख्यात गुने परमाणु वैक्रियिक शरीरमें हैं। और वैक्रियिक शरीरसे असंख्यात गुने परमाणु आहारक शरीरमें होते हैं।

[शंका—यदि आगे आगेके शरीरमें असंख्यात गुने, असंख्यात गुने परमाणु होते हैं तो आगे आगेके शरीर तो औदारिकसे भी स्थूल होने चाहिएँ। फिर आगे आगेके शरीर सूक्ष्म होते हैं, ऐसा क्यों कहा?

समाधान—असंख्यात गुने असंख्यात गुने, परमाणुओंसे घने होने पर भी आगेके शरीर स्थूल नहीं है। बल्कि बन्धनके ठोस होनेसे उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं। जैसे रुई का ढेर और लोहेका पिण्ड]॥ ३८ ॥

अब तैजस और कार्मण शरीरके प्रदेश बतलाते हैं—

अनन्तगुणे परे ॥ ३९ ॥

अर्थ—आहारक शरीरसे तैजसमें अनन्तगुने परमाणु होते हैं और तैजससे कार्मणमें अनन्तगुने परमाणु होते हैं ॥ ३९ ॥

शङ्का—यदि तैजस और कार्मण शरीरमें इतने परमाणु होते

हैं तो इन दोनों शरीरोंके साथ होनेसे संसारी जीव अपने इच्छित प्रदेशको गमन नहीं कर सकेगा ?

इस आशंकाको दूर करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

अप्रतिघाते ॥ ४० ॥

अर्थ—तैजस और कार्मण शरीर अप्रतिघाती हैं। अर्थात् जैसे अग्नि लोहेके पिण्डमें घुस जाती है वैसे ही ये दोनों शरीर भी वज्रमय पटलसे भी नहीं रुकते हैं।

[शङ्का—वैक्रियिक और आहारक शरीर भी सूक्ष्म होनेके कारण किसीसे रुकते नहीं हैं, फिर इनको अप्रतिघाती क्यों नहीं कहा ?

समाधान—यहाँ उन्हींको अप्रतिघाती कहा है जो समस्त लोकमें कहीं भी नहीं रुकते। वैक्रियिक और आहारक समस्त लोकमें अप्रतिघाती नहीं है। क्योंकि आहारक शरीर तो अढ़ाई द्वीप तक ही जा सकता है, और मनुष्योंको ऋद्धि द्वारा प्राप्त हुआ वैक्रियिक भी मनुष्यलोक तक ही जा सकता है। तथा देवोंका वैक्रियिक शरीर त्रस नालीके भीतर ही ऊपर सोलहवें स्वर्ग तक और नीचे तीसरे नरक तक जा सकता है। अतः समस्त लोकमें अप्रतिघाती तो तैजस और कार्मण ही हैं]।

इन दो शरीरोंके विषयमें और भी विशेष कहते हैं—

अनादिसम्बन्धे च ॥ ४१ ॥

अर्थ—यहाँ 'च' शब्द विकल्पार्थक है। अतः आत्मासे तैजस और कार्मणका सम्बन्ध अनादि भी है और सादि भी है। कार्य कारण रूप बन्धकी परम्पराकी अपेक्षा तो अनादि सम्बन्ध है। अर्थात् जैसे औदारिक, वैक्रियिक, और आहारक शरीरका सम्बन्ध अनित्य है, कभी कोई शरीर होता है और कभी नहीं होता। ऐसी बात तैजस और कार्मणमें नहीं है। ये दोनों शरीर तो सब अव-

स्थाओंमें संसारी जीवके साथ सदा ही रहते हैं। अतः अनादि हैं। तथा पहलेके बंधे तैजस और कार्मणकी प्रति समय निर्जरा होती रहती है और नवीनका बन्ध होता रहता है। इस अपेक्षासे सादि हैं।

विशेषार्थ—जो लोग शरीरका आत्माके साथ सम्बन्ध सर्वथा सादि या सर्वथा अनादि ही मानते हैं उनके मतमें अनेक दोष आते हैं। यदि आत्मासे शरीरका सम्बन्ध सादि ही माना जाये तो शरीरका सम्बन्ध होनेसे पहले आत्मा अत्यन्त शुद्ध ठहरी। ऐसी अवस्थामें सर्वथा शुद्ध आत्माके साथ शरीरका सम्बन्ध विना निमित्तके कैसे हो सकता है ? यदि शुद्ध आत्माके भी विना निमित्तके शरीरका सम्बन्ध हो सकता है तो मुक्त जीवोंके भी फिरसे शरीरका सम्बन्ध होनेका प्रसंग आ जायेगा। तब तो मुक्तात्माका ही अभाव हो जायेगा। यदि आत्मा और शरीरका सम्बन्ध एकान्तसे अनादि ही माना जायेगा तो जो सर्वथा अनादि होता है उसका अन्त नहीं होता। अतः जीवकी कभी मुक्ति नहीं होगी। इसलिए शरीरका सम्बन्ध कदाचित् सादि और कदाचित् अनादि ही मानना उचित है ॥ ४१ ॥

ये दोनों शरीर किसी किसी जीवके होते हैं अथवा सब जीवोंके होते हैं ? इस प्रश्नका समाधान करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

सर्वस्य ॥ ४२ ॥

अर्थ—ये दोनों शरीर सभी संसारी जीवोंके होते हैं ॥ ४२॥

आगे बतलाते हैं कि इन पांच शरीरोंमेंसे एक जीवके एक साथ कितने शरीर हो सकते हैं—

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥ ४३ ॥

अर्थ–तैजस और कार्मण शरीरको लेकर एक जीवके एक समयमें चार शरीर तक विभाग कर लेना चाहिये। अर्थात् विग्रह गतिमें तो जीवके तैजस और कार्मण ये दो शरीर ही होते हैं। विग्रह गतिके सिवा अन्य अवसरोंपर मनुष्य और तिर्यञ्चोंके औदारिक, तैजस और कार्मण ये तीन शरीर होते हैं। तथा छट्ठे गुणस्थान वर्ती किसी किसी मुनिके औदारिक आहारक तैजस कार्मण या औदारिक, वैक्रियिक, तैजस, कार्मण ये चार शरीर होते हैं। वैक्रियिक और आहारक शरीर एक साथ न होनेसे एक साथ पांच शरीर नहीं होते॥ ४३॥

आगे शरीरोंके विषयमें विशेष कथन करते हैं—

निरुपभोगमन्त्यम् ॥ ४४ ॥

अर्थ–अन्तका कार्मण शरीर उपभोग रहित है। इन्द्रियोंके द्वारा शब्द वगैरहके ग्रहण करनेको उपभोग कहते हैं। इस प्रकारका उपभोग कार्मण शरीरमें नहीं होता इसलिए वह निरुपभोग है। आशय यह है कि विग्रह-गतिमें कार्मण शरीरके द्वारा ही योग होता है किन्तु उस समय लब्धिरूप भावेन्द्रिय ही होती है, द्रव्येन्द्रिय नहीं होती। इसलिए शब्द आदि विषयोंका अनुभव विग्रह गतिमें न होनेसे कार्मण शरीरको निरुपभोग कहा है।

[शंका–तैजस शरीर भी तो निरुपभोग है फिर उसे क्यों नहीं कहा?

समाधान–तैजस शरीर तो योगमें भी निमित्त नहीं है। अर्थात् जैसे अन्य शरीरोंके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंमें कम्पन होता है, तैजसके निमित्तसे तो वह भी नहीं होता। अतः वह तो निरुपभोग ही है इसीसे यहाँ उसका कथन नहीं किया; क्योंकि निरुपभोग और सोपभोगका विचार करते समय उन्हीं शरीरोंका

अधिकार है जो योगमें निमित्त होते हैं। ऐसे शरीर तैजसके सिवा चार ही हैं। उनमें भी केवल कार्मण शरीर निरुपभोग है बाकीके तीन शरीर सोपभोग हैं क्यों कि उनमें इन्द्रियाँ होती हैं और उनके द्वारा जीव विषयोंको भोगता है] ॥ ४४ ॥

अब यह बतलाते हैं कि किस जन्मसे कौन सा शरीर होता है—

गर्भ-सम्मूर्छनजमाद्यम् ॥ ४५ ॥

अर्थ—गर्भ जन्म तथा सम्मूर्छन जन्मसे जो शरीर उत्पन्न होता है वह औदारिक शरीर है ॥ ४५ ॥

औपपादिकं वैक्रियिकम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—उपपाद जन्मसे जो शरीर उत्पन्न होता है वह वैक्रियिक शरीर है ॥ ४६ ॥

यदि वैक्रियिक शरीर उपपाद जन्मसे उत्पन्न होता है तो क्या विना उपपाद जन्मके वैक्रियिक शरीर नहीं होता ? इस आशंकाको दूर करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

लब्धिप्रत्ययं च ॥ ४७ ॥

अर्थ—लब्धिसे भी वैक्रियिक शरीर होता है। विशेष तपस्या करनेसे जो ऋद्धिकी प्राप्ति होती है उसे लब्धि कहते हैं। अतः मनुष्योंके तपके प्रभावसे भी वैक्रियिक शरीर हो जाता है ॥ ४७ ॥

तपके प्रभावसे वैक्रियिक शरीर ही होता है या अन्य शरीर भी होते हैं ? इस आशंकाका समाधान करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

तैजसमपि ॥ ४८ ॥

अर्थ—तैजस शरीर भी लब्धि प्रत्यय होता है।

विशेषार्थ—तैजस शरीर दो प्रकारका होता है—एक शरीरसे निकल कर बाहर जाने वाला और दूसरा शरीरमें ही रह कर उसको कान्ति देने वाला, जो सब संसारी जीवोंके पाया जाता है। निकलने वाला तैजस शुभ भी होता है और अशुभ भी। किसी क्षेत्रके लोगोंको रोग, दुर्भिक्ष वगैरहसे पीड़ित देख कर यदि तपस्वी मुनिके हृदयमें अत्यन्त करुणा उत्पन्न हो जाये तो दाहिने कन्धेसे शुभ तैजस निकल कर बारह योजन क्षेत्रके मनुष्योंका दुःख दूर कर पुनः मुनिके शरीरमें प्रविष्ट हो जाता है। और यदि तपस्वी मुनि किसी क्षेत्रके मनुष्योंपर अत्यन्त क्रुद्ध हो जाते हैं तो उनके तपके प्रभावसे बाएँ कन्धेसे सिन्दूरके समान लाल अशुभ तैजस निकलता है और उस क्षेत्रमें जा कर बारह योजनके भीतरके जीवोंको जला कर राख कर देता है। पीछे मुनिको भी जला डालता है॥ ४८॥

आगे आहारक शरीरका स्वरूप कहते हैं—

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ॥ ४९ ॥

अर्थ—अहारक शरीर शुभ है, विशुद्ध है, व्याघात रहित है और प्रमत्त-संयत मुनिके ही होता है।

विशेषार्थ—आहारक शरीरका रंग सफेद, और ऊँचाई एक हाथ होती है। समचतुरस्र संस्थान होता है, धातु उपधातुसे रहित होता है। न किसीसे रुकता है और न किसीको रोकता है। प्रमत्त-संयत मुनिके मस्तकसे उत्पन्न होता है। कभी तो ऋद्धिका सद्भाव जाननेके लिए आहारक शरीरकी रचना होती है। कभी सूक्ष्म पदार्थका निर्णय करनेके लिए। सो मुनिके मस्तकसे निकल कर वह केवली भगवानके पास जाता है और सूक्ष्म पदार्थका निर्णय करके अन्तर्मुहूर्तमें लौट कर मुनिके शरीरमें ही प्रवेश कर जाता है, तीर्थ यात्राके उद्देश्यसे भी निकलता है॥ ४९॥

इस तरह चौदह सूत्रोंके द्वारा पांच शरीरोंका कथन करके अब सूत्रकार लिंगका कथन करते हैं—

नारक-सम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि ॥ ५० ॥

अर्थ—नारकी और सम्मूर्छन जीव नपुंसक लिंग वाले ही होते हैं ॥ ५० ॥

न देवाः ॥ ५१ ॥

अर्थ—देव नपुंसक लिंग वाले नहीं होते। देवगतिमें पुरुष वेद और स्त्री वेद, दो ही वेद होते हैं ॥ ५१ ॥

शेषास्त्रिवेदाः ॥ ५२ ॥

अर्थ—नारकी, देव तथा सम्मूर्छन जीवोंके सिवा शेष जीव अर्थात् गर्भज तिर्यञ्च और मनुष्य तीनों वेद वाले होते हैं। इतना विशेष है कि भोगभूमि तथा म्लेच्छ-खण्डके मनुष्योंमें स्त्री-पुरुष वेद ही होते हैं।

अब आगे यह बतलाते हैं कि कौन कौन जीव पूरी आयु भोग कर ही मरण करते हैं—

औपपादिक-चरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥५३॥

अर्थ—औपपादिक अर्थात् देव नारकी, चरमोत्तम-देह अर्थात् उसी भवसे मोक्ष जानेवाले और असंख्यात वर्षकी आयु वाले भोगभूमिया जीव पूरी आयु भोग कर ही शरीर छोड़ते हैं— विष, शस्त्र, वगैरहसे इनकी आयु नहीं छिदती। इनके सिवा शेष जीवोंकी आयुका कोई नियम नहीं है।

विशेषार्थ—कर्मभूमिके मनुष्य और तिर्यञ्चोंकी भुज्यमान

आयुकी उदीरणा होती है। उदीरणाके होनेसे आयुकी स्थिति जल्दी पूरी हो कर अकालमें ही मरण हो जाता है। जैसे आम वगैरहको पाल देकर समयसे पहले ही पका लिया जाता है। एक उदाहरणके द्वारा इसे स्पष्ट किया जाता है-किसी जीवने मनुष्यायुका वन्ध किया और उसकी स्थिति सौ वर्षकी बांधी। सो आयु-कर्मका जितना प्रदेश वन्ध किया, सौ वर्षके जितने समय होते हैं उतने समयोंमें उन कर्म परमाणुओंकी निषेक रचना तत्काल हो गयी। जव वह मर कर मनुष्य पर्यायमें उत्पन्न हुआ तो प्रति समय आयु कर्मका एक एक निषेक उदयमें आ कर खिरने लगा। यदि इसी तरह क्रमसे एक एक समयमें एक एक आयुका निषेक उदयमें आता रहता तो सौ वर्षमें जा कर पूरे निषेक खिरते और इस तरह वह जीव पूरे सौ वर्ष तक मनुष्य पर्यायमें रह कर मरण करता। किन्तु बावन वर्षकी उम्र तक तो एक एक समयमें एक एक निषेककी निर्जरा होती रही। बादको पाप कर्मका उदय आ जानेसे किसीने उसे जहर दे दिया अथवा उसने स्वयं जहर खा लिया, या कोई भयानक रोग हो गया, अथवा किसीने मार डाला तो अड़तालीस वर्षोंमें उदय आनेवाले निषेकोंकी अन्तर्मुहूर्तमें उदीरणा हो जाती है। यह अकाल मरण कहलाता है। किन्तु यदि किसीने बावन वर्षकी ही आयु बाँधी हो और वह बावन वर्षकी आयु पूरी करके मरे तो वह अकाल मरण नहीं है।

शंका--जैसे कर्मभूमिके मनुष्यों और तिर्यञ्चोंकी आयु घट जाती है वैसे ही आयु बढ़ भी सकती है या नहीं?

समाधान--जो आयु हम भोग रहे हैं वह बढ़ नहीं सकती; क्यों कि उस आयुका वन्ध पूर्व जन्ममें हो चुका है। अतः उसमें अब बढ़नेकी गुंजाइश नहीं है, हां, घट जरूर सकती है ॥५२॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे द्वितीयोऽध्यायः ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

अब जीवोंका आधार बतलाते हुए, पहले अधोलोकका वर्णन करते हैं—

रत्न-शर्करा-वालुका-पङ्क-धूम-तमो-महातमःप्रभा-भूमयो घनाम्बु-वाताकाश-प्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः ॥१॥

विशेपार्थ—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, महातमःप्रभा ये सात भूमियां नीचे नीचे हैं। ये भूमियां घनोदधिवात-वलयके आधार हैं, घनोदधि वातवलय घनवात वलयके आधार है, घन वातवलय तनु वातवलयके आधार है और तनु वातवलय आकाशके आधार है। तथा आकाश अपने ही आधार है; क्योंकि, आकाश सबसे बड़ा और अनन्त है। इसलिए उसका आधार कोई दूसरा नहीं हो सकता।

विशेपार्थ—रत्नप्रभा नामकी पहली पृथ्वी एक लाख अस्सी हजार योजनकी मोटी है। उसकी मोटाईके तीन भाग हैं। ऊपरका खरभाग सोलह हजार योजन मोटा है। उसके नीचेका पंक भाग चौरासी हजार योजन मोटा है और उसके नीचेका अब्बहुल भाग अस्सी हजार योजन मोटा है। खर भागके ऊपर और नीचे एक एक हजार योजन छोड़ कर बीचके चौदह हजार मोटे और एक राजु प्रमाण लम्बे चौड़े भागोंमें राक्षसोंके सिवा शेष सात प्रकारके व्यन्तर और असुर कुमारोंके सिवा शेष नौ प्रकारके भवनवासी देव रहते हैं। पंक भागमें राक्षस और असुर कुमार रहते हैं। और अब्बहुल भागमें प्रथम नरक है जिसमें नारकी रहते हैं। पहली पृथ्वीमें

नीचे कुछ कम एक राजु अन्तराल छोड़ कर दूसरी शर्कराप्रभा पृथ्वी है उसको मोटाई वत्तीस हजार योजन है। उसके नीचे कुछ कम एक राजु अन्तराल छोड़कर तीसरी वालुका प्रभा पृथ्वी है। वह अट्ठाईस हजार योजन मोटी है। उसके नीचे कुछ कम राजु अन्तर दे कर चौथी पृथ्वी चौवीस हजार योजन मोटी है। इसी तरह नीचे नीचे कुछ कम एक राजुका अन्तर दे कर वीस हजार योजन मोटी पांचवी पृथ्वी और सोलह हजार योजन मोटी छठी पृथ्वी है। फिर कुछ कम एक राजुका अन्तर दे कर आठ हजार योजन मोटी सातवीं पृथ्वी है। सातवीं पृथ्वीसे एक राजु नीचे लोकका अन्त है। इस सातों पृथिवियोंकी लम्वाई चौड़ाई लोकके अन्त तक है। जिस पृथ्वीका जैसा नाम है वैसी ही उसमें प्रभा है॥ १॥

तासु त्रिंशत्-पंचविंशति-पञ्चदश-दश-त्रि-पंचोनैक-नरक-शतसहस्राणि-पञ्च चैव यथाक्रमम् ॥ २ ॥

अर्थ—उन रत्नप्रभा आदि भूमियोंमें नरकोंकी संख्या इस प्रकार है—पहली पृथ्वीके अव्बहुल भागमें तीस लाख, दूसरी पृथ्वीमें पचीस लाख, तीसरी पृथ्वीमें पन्द्रह लाख, चौथीमें दस लाख, पाँचवीं पृथ्वीमें तीन लाख, छठीमें पाँच कम एक लाख और सातवींमें पाँच नरक अर्थात् विल हैं।

विशेषार्थ—जैसे पृथ्वीमें गड्ढे होते हैं वैसे ही नारकियोंके विल होते हैं। कुछ विल संख्यात योजन और कुछ असंख्यात योजन लम्वे चौड़े हैं। पहले नरककी पृथ्वीमें तेरह पटल हैं और नीचे नीचे प्रत्येक पृथ्वीमें दो दो पटल कम होते गये हैं। अर्थात् दूसरीमें ग्यारह, तीसरीमें नौ, चौथीमें सात, पाँचवींमें पाँच, छठीमें तीन और सातवींमें एक ही पटल है। इस तरह कुल पृथि:

वियोंमें उनंचास पटल हैं जो नीचे नीचे हैं। इन पटलोंमें इन्द्रक, श्रेणीवद्ध और प्रकीर्णक, इस तरह तीन प्रकारके विल होते हैं। प्रत्येक पटलके वीचमें जो विल है उसे इन्द्रक विल कहते हैं। उस इन्द्रक विलकी चारों दिशाओं और चारों विदिशाओंमें जो पंक्तिवार विल हैं वे श्रेणीवद्ध कहे जाते हैं। और दिशा-विदिशाओंके अन्तरालमें विना क्रमके जो विल हैं उन्हें प्रकीर्णक कहते हैं। प्रथम पटलकी चारों दिशाओंमें उनचास, उनचास और विदिशाओंमें अड़तालीस अड़तालीस श्रेणीवद्ध विल हैं। आगे;नीचे नीचे प्रत्येक पटलकी चारों दिशाओंमें और चारों विदिशाओंमें एक एक विल घटता जाता है। इस तरह प्रत्येक पटलमें, आठ आठ विल घटते जाते हैं। घटते घटते सातवें नरकके पटलमें, जो कि उनचासवां पटल है, केवल दिशाओंमें ही एक एक विल है, विदिशाओंमें विल नहीं हैं अतः वहाँ केवल पाँच ही विल हैं। सातों नरकोंमें कुल विल चौरासी लाख हैं। जिनमें उनचास इन्द्रक विल और दो हजार छः सौ चार श्रेणीवद्ध विल हैं। शेष तेरासी लाख नौवे हजार तीन सौ सैंतालिस प्रकीर्णक विल हैं। उनचास इन्द्रक विलोंमें से प्रथम नरकका पहला इन्द्रक पैंतालीस लाख योजन विस्तार वाला है जो अढ़ाई द्वीपके वरावर है और उसीके ठीक नीचे है। नीचे क्रमसे घटते घटते सातवें नरकका इन्द्रक एक लाख योजन विस्तार वाला है। सभी इन्द्रक संख्यात योजन विस्तार वाले हैं, सभी श्रेणीवद्ध असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं और प्रकीर्णकोंमें से कुछ संख्यात योजन विस्तार वाले हैं और कुछ असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं।

अब नारकियोंका वर्णन करते हैं—

नारका नित्याशुभतर-लेश्या-परिणाम-देह-वेदना-
विक्रियाः ॥ ३ ॥

अर्थ—नारकी जीवोंके सदा अशुभतर लेश्या, अशुभतर

परिणाम, अशुभतर देह, अशुभतर वेदना और अशुभतर विक्रिया होती है।

विशेषार्थ—पहली और दूसरी पृथ्वीके नारकियोंके कापोत लेश्या होती है, तीसरीमें ऊपरके बिलोंमें कापोत और नीचेके बिलोंमें नील लेश्या होती है। चौथीमें नील लेश्या ही है। पाँचवींमें ऊपरके बिलोंमें नील और नीचेके बिलोंमें कृष्ण लेश्या होती है। छठीमें कृष्ण लेश्या ही है और सातवींमें परम कृष्ण है। इस तरह नीचे नीचे अधिक अधिक अशुभ लेश्या होती है। उनका स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्दोंका परिणमन भी वहांके क्षेत्रकी विशेषताके निमित्तसे अति दुःखका ही कारण होता है। उनका शरीर भी अत्यन्त अशुभ होता है, हुण्डक संस्थानके होनेसे देखनेमें बड़ा भयंकर लगता है। पहली पृथ्वीके अन्तिम पटलमें नारकियोंके शरीरकी ऊँचाई सात धनुष, तीन हाथ, छै अंगुल होती है। नीचे नीचे प्रत्येक पृथ्वीमें दूनी दूनी ऊँचाई होती जाती है। इस तरह सातवें नरकमें पाँच सौ धनुष ऊँचाई होती है। तथा शीत उष्णकी भयंकर वेदना भी है। पहलीसे लेकर चौथी पृथ्वी तक सब बिल गर्म ही हैं। पाँचवींमें ऊपरके दो लाख बिल गर्म हैं और नीचेके एक लाख बिल ठंडे हैं। छठी और सातवींके बिल भयंकर ठंडे ही हैं। ये नारकी विक्रिया भी बुरीसे बुरी ही करते हैं ॥ ३ ॥

परस्परोदीरित-दुःखाः ॥ ४ ॥

अर्थ—इसके सिवा नारकी जीव आपसमें ही एक-दूसरेको दुःख देते हैं।

विशेषार्थ—जैसे यहाँ कुत्तोंमें जातिगत वैमनस्य देखा जाता है वैसे ही नारकी जीव भी कु-अवधिज्ञानके द्वारा दूरसे ही नारकियोंको देख कर और उनको अपने दुःखका कारण जान कर दुखी

होते हैं। फिर निकट आनेपर परस्परके देखनेसे उनका क्रोध भड़क उठता है। और अपनी विक्रियाके द्वारा बनाये गये अस्त्र शस्त्रोंसे आपसमें मार काट करने लगते हैं। इस तरह एक दूसरेके टुकड़े टुकड़े कर डालने पर भी उनका मरण अकालमें नहीं होता ॥ ४ ॥

दुखके और भी कारण बतलाते हैं—

संक्लिष्टासुरोदीरित-दुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥ ५ ॥

अर्थ—संक्लेश परिणाम वाले जो अम्बावरीष जातिके असुर-कुमार देव हैं, वे तीसरी पृथ्वी तक जा कर नारकियोंको दुःख देते हैं, उन्हें आपसमें लड़ाते हैं ॥ ५ ॥

अब नारकियोंकी आयु बतलाते हैं—

तेष्वेक-त्रि-सप्त-दश-सप्तदश-द्वाविंशति-त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ॥ ६ ॥

अर्थ—नारकी जीवोंकी उत्कृष्ट आयु पहली पृथ्वीमें एक सागर, दूसरीमें तीन सागर, तीसरीमें सात सागर, चौथीमें दश सागर, पांचवींमें सतरह सागर, छठीमें बाईस सागर और सातवींमें तेतीस सागर होती है ॥६॥

इस तरह अधोलोकका वर्णन किया। आगे मध्य लोकका वर्णन करते हैं। मध्य लोकको तिर्यग्लोक भी कहते हैं, क्योंकि स्वयं-भुरमण समुद्र तक एक दूसरेको घेरे हुए असंख्यात द्वीप समुद्र तिर्यक् (आजू-बाजू) रूपसे स्थित हैं। इसीसे मध्य लोकका वर्णन प्रारम्भ करते हुए सूत्रकार पहले इसी बातकी चर्चा करते हैं—

जम्बूद्वीप-लवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥७॥

अर्थ—मध्यलोकमें जम्बूद्वीप और लवण समुद्र वगैरह अनेक द्वीप और समुद्र हैं। अर्थात् पहला द्वीप जम्बूद्वीप है और

उसके वाद पहला समुद्र लवण-समुद्र है। लवण समुद्रके वाद दूसरा द्वीप धातकी-खण्ड है। और धातकी-खण्डके वाद दूसरा समुद्र कालोदधि है। कालोदधिके वाद तीसरा द्वीप पुष्करवर है और उसके वाद तीसरे समुद्रका नाम भी पुष्करवर है। इसके आगे जो द्वीपका नाम है वही उसके वादके समुद्रका नाम है। सबसे अन्तिम द्वीप और समुद्रका नाम स्वयंभुरमण है ॥७॥

आगे इन द्वीप-समुद्रोंका विस्तार वगैरह वतलाते हैं—

द्वि-द्वि-र्विष्कम्भाः पूर्व-पूर्व-परिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥८॥

अर्थ—इन द्वीप और समुद्रोंका विस्तार, आगे आगे दूना दूना होता गया है, तथा प्रत्येक द्वीप और समुद्र अपनेसे पूर्वके द्वीप समुद्रोंको घेरे हुए चूड़ीके आकारका है। अर्थात् पहले द्वीपका जितना विस्तार है उससे दूना विस्तार पहले समुद्रका है। उससे दूना विस्तार दूसरे द्वीपका है और उससे दूना विस्तार दूसरे समुद्रका है। इस तरह द्वीपसे दूना विस्तार समुद्रका है और समुद्रसे दूना विस्तार आगेके द्वीपका है। तथा जम्बूद्वीपको लवण समुद्र घेरे हुए है, लवण समुद्रको धातकीखण्ड घेरे हुए है, धातकीखण्डको कलोदधि समुद्र घेरे हुए है। इस तरह जम्बू-द्वीपके सिवा शेष सव द्वीप और समुद्र चूड़ीके आकार वाले हैं ॥८॥

आगे जम्बूद्वीपका आकार वगैरह वतलाते हैं—

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजन-शतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥९॥

अर्थ—उन सव द्वीप-समुद्रोंके वीचमें जम्बूद्वीप है। यह जम्बूद्वीप सूर्य मण्डलकी तरह गोल है और उसका विस्तार एक लाख योजन है। उसके वीचमें मेरुपर्वत है।

विशेषार्थ—उत्तर-कुरु भोगभूमिमें एक जम्बूवृक्ष (जामुनका पेड़) है। वह वृक्ष पार्थिव है, हरा भरा वनस्पति कायिक नहीं है। इसीसे वह अनादि निधन है। उसीके कारण यह द्वीप जम्बूद्वीप कहा जाता है ॥९॥

आगे जम्बूद्वीपमें सात क्षेत्र बतलाते हैं—

भरत-हैमवत-हरि-विदेह-रम्यक-हैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥१०॥

अर्थ—उस जम्बूद्वीपमें भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत, ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं।

विशेषार्थ—भरत क्षेत्रके उत्तरमें हिमवान् पर्वत है पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिणमें लवण समुद्र है। भरत क्षेत्रके बीचमें विजयार्ध पर्वत है। वह पूर्व-पश्चिम लम्बा है तथा पच्चीस योजन ऊंचा और पचास योजन चौड़ा है। भूमिसे दस योजन ऊपर जाने पर उस विजयार्ध पर्वतके दक्षिण तथा उत्तरमें दो श्रेणियां हैं जिनमें विद्याधरोंके नगर बसे हुए हैं। वहांसे और दस योजन जाने पर पर्वतके ऊपर दोनों ओर पुनः दो श्रेणियां हैं जिनमें व्यन्तर देव बसते हैं। वहांसे पांच योजन ऊपर जाने पर विजयार्ध पर्वतका शिखर तल है, जिस पर अनेक कूट बने हुए हैं। इस पर्वतमें दो गुफाएं हैं जो आर-पार हैं। हिमवान् पर्वतसे गिर कर गंगा सिन्धु नदी इन्हीं गुफाओंकी देहलीके नीचेसे निकल कर दक्षिण भारतमें आती हैं। विजयार्ध पर्वत तथा इन दोनों नदियोंके कारण ही भारत क्षेत्रके छै खण्ड हो गये हैं। तीन खण्ड विजयार्धके उत्तरमें हैं और तीन खण्ड दक्षिणमें हैं। दक्षिणके तीन खण्डोंके बीचका खण्ड आर्यखण्ड कहलाता है। शेष पांचों म्लेच्छ खण्ड हैं। उक्त गुफाओंके द्वारा ही चक्रवर्ती उत्तरके तीन खण्डोंको जीतने

जाता और लौट कर वापिस आता है। इसीसे इस पर्वतका नाम विजयार्ध है क्यों कि इस तक पहुँचने पर चक्रवर्तीकी आधी विजय हो जाती है। उत्तरके तीन खण्डोंके बीचके खण्डमें वृषभाचल पर्वत है, उस पर चक्रवर्ती अपना नाम खोद देता है।

भरत क्षेत्रकी तरह ही अन्तका ऐरावत क्षेत्र भी है। उसमें भी विजयार्ध पर्वत वगैरह हैं। तथा विजयार्ध पर्वत और रक्ता रक्तोदा नदीके कारण उसके भी छै खण्ड हो गये हैं। सब क्षेत्रोंके बीचमें विदेह क्षेत्र है। यह क्षेत्र निपध और नील पर्वतके मध्यमें स्थित है। वहाँ मनुष्य आत्म-ध्यानके द्वारा कर्मोंको नष्ट करके देहके बन्धनसे सदा छूटते रहते हैं। इसीसे उसका 'विदेह' नाम पड़ा हुआ है। उस विदेह क्षेत्रके बीचमें सुमेरु पर्वत है। सुमेरुके पूर्व दिशा वाले भागको पूर्व विदेह और पश्चिम दिशावाले भागको पश्चिम विदेह कहते हैं। नील पर्वतसे निकल कर सीता नदी पूर्व विदेहके मध्यसे हो कर बहती है और निपध पर्वतसे निकल कर सीतोदा नदी पश्चिम विदेहके मध्यसे हो कर बहती है। इससे इन नदियोंके कारण पूर्व विदेह और पश्चिम विदेहके भी दो-दो भाग हो गये हैं। इस तरह विदेहके चार भाग हैं। प्रत्येक भागमें आठ-आठ उपविभाग हैं। यह प्रत्येक उपविभाग एक-एक स्वतंत्र देश है। अतः विदेह क्षेत्रमें ८×४=३२ देश हैं, वे सब विदेह कहलाते हैं।

सुमेरु पर्वत एक लाख योजन ऊँचा है। जिसमें एक हजार योजन तो पृथ्वीके अन्दर उसकी नींव है और निन्यानवे हजार योजन पृथ्वीके ऊपर उठा हुआ है। उसके चारों ओर पृथ्वीपर भद्रशाल नामका वन है। उससे पांच सौ योजन ऊपर जाने पर सुमेरु पर्वतके चारों ओरकी कटनीपर दूसरा नन्दन वन है। नन्दन वनसे साढ़े वासठ हजार योजन ऊपर जा कर पर्वतके चारों ओरकी

कटनीपर तीसरा सौमनस वन है। सौमनस वनसे छत्तीस हजार योजन ऊँचाई पर पर्वतका शिखर तल है। उसके बीचमें चालीस योजन ऊँची चूलिका है और चूलिकाके चारों ओर पाण्डुक वन है। इस वनमें चारों दिशाओंमें चार शिलाएं हैं। उन शिलाओंपर पूर्व विदेह, पश्चिम विदेह, भरत और ऐरावत क्षेत्रमें जन्म लेनेवाले तीर्थङ्करोंका जन्माभिषेक होता है॥ १०॥

आगे इन सात क्षेत्रोंका विभाग करनेवाले छै पर्वतोंका कथन करते हैं—

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषध-नील-रुक्मि-शिखरिणो वर्षधरपर्वताः॥ ११॥

अर्थ—उन क्षेत्रोंका विभाग करनेवाले छै पर्वत हैं जो पूर्वसे पश्चिम तक लम्बे हैं। हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मि और शिखरी उनके नाम हैं। वर्ष अर्थात् क्षेत्रोंके विभागको बनाये रखनेके कारण उन्हें 'वर्षधर' कहते हैं।

विशेषार्थ—भरत और हैमवत क्षेत्रके बीचमें हिमवान् पर्वत है जो सौ योजन ऊँचा है। हैमवत और हरिवर्षके बीचमें महाहिमवान् है जो दो सौ योजन ऊंचा है। हरिवर्ष और विदेहके बीचमें निषध पर्वत है जो चार सौ योजन ऊंचा है। विदेह और रम्यक क्षेत्रके बीचमें नील पर्वत है जो चार सौ योजन ऊंचा है। रम्यक और हैरण्यवतके बीचमें रुक्मि है जो दो सौ योजन ऊंचा है। और हैरण्यवत तथा ऐरावतके बीचमें शिखरी पर्वत है जो सौ योजन ऊंचा है। ये सभी पर्वत पूरब समुद्रसे लेकर पश्चिम समुद्र तक लम्बे हैं॥११॥

आगे इन पर्वतोंका रंग बतलाते हैं—

हेमार्जुन-तपनीय-वैडूर्य-रजत-हेममयाः॥ १२॥

अर्थ—हिमवान् पर्वत चीन देशकी सिल्ककी तरह पीतवर्ण है। महाहिमवान् चांदीकी तरह सफेद है। निषध पर्वत तरुण सूर्यकी तरह तपाये हुए सोनेके समान रंगवाला है। नील पर्वत मोरके कण्ठकी तरह नीला है। रुक्मि पर्वत चांदीकी तरह सफेद है और शिखरी पर्वत चीन देशकी सिल्ककी तरह पीतवर्ण है॥१२॥

आगे इन पर्वतोंका और भी विशेष वर्णन करते हैं—

मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः ॥ १२ ॥

अर्थ—इन पर्वतोंके पार्श्व भाग (पखवाड़े); अनेक प्रकारकी मणियोंसे खचित हैं। और मूल, मध्य तथा ऊपर इनका विस्तार समान है। अर्थात् मूलसे लेकर ऊपर तक एक-सा विस्तार है॥ १३ ॥

आगे इन पर्वतोंपर स्थित तालावोंका वर्णन करते हैं—

पद्म-महापद्म-तिगिञ्छ-केसरि-महापुण्डरीक-पुण्डरीका ह्रदा-स्तेषामुपरि ॥ १४ ॥

अर्थ—उन पर्वतोंके ऊपर पद्म, महापद्म, तिगिञ्छ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक नामके ह्रद हैं। अर्थात् हिमवान्‌पर पद्म, महाहिमवान्‌पर महापद्म, निषधपर तिगिञ्छ, नीलपर केसरी, रुक्मिपर महापुण्डरीक और शिखरीपर पुण्डरीक ह्रद है॥१४॥

आगे इन तालावोंका विस्तार बतलाते हैं—

प्रथमो योजन सहस्रायामस्तदर्द्धविष्कम्भो ह्रदः ॥ १५ ॥

अर्थ—पहला पद्म नामका ह्रद पूरव पश्चिम एक हजार योजन लम्बा है और उत्तर दक्षिण पांच सौ योजन चौड़ा है॥१५॥

अब इसकी गहराई बतलाते हैं—

दश-योजनावगाहः ॥ १६ ॥

अर्थ—पद्म ह्रदकी गहराई दश योजन है ॥ १६ ॥

आगे इसका विशेष चित्रण करते हैं—

तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥ १७ ॥

अर्थ—उस पद्मह्रदमें एक योजन लम्बा चौड़ा कमल है।

विशेषार्थ—यह कमल वनस्पति काय नहीं है किन्तु कमलके आकारकी पृथ्वी है। उस कमलाकार पृथ्वीके बीचमें दो कोसकी कर्णिका है और उस कर्णिकाके चारों ओर एक-एक कोसकी पंखुरियाँ हैं। इससे उसकी लम्बाई चौड़ाई एक योजन है ॥ १७ ॥

आगेके ह्रदों और कमलोंका विस्तार बतलाते हैं—

तद्द्विगुण-द्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च ॥ १८ ॥

अर्थ—आगेके ह्रद और कमल प्रथम ह्रद और कमलसे दूने दूने परिमाण वाले हैं। अर्थात् पद्म ह्रदसे दूना महापद्मह्रद है। महापद्मसे दूना तिगिञ्छ ह्रद है। इन ह्रदोंमें जो कमल हैं वे भी दूने दूने परिमाण वाले हैं ॥ १८ ॥

इन कमलोंपर निवास करने वाली देवियोंका वर्णन करते हैं—

तन्निवासिन्यो देव्यः श्री-ह्री-धृति-कीर्ति-बुद्धि-लक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः ससामानिकपारिषत्काः ॥ १९ ॥

अर्थ—उन कमलोंकी कर्णिकापर बने हुए महलोंमें निवास करनेवाली श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी ये छै देवियां हैं। इनकी एक पल्यकी आयु है। और ये सामानिक एवं पारिषद जातिके देवोंके साथ रहती हैं। अर्थात् इनके कमलके आस पा

जो और कमलाकार टापू हैं उनपर बने हुए मकानोंमें सामानिक और परिषद् जातिके देव बसते हैं ॥ १९ ॥

अब उक्त क्षेत्रमें बहनेवाली नदियोंका हाल बतलाते हैं—

गङ्गा-सिन्धु,रोहिद्-रोहितास्या,हरिद्-हरिकान्ता,सीता-सीतोदा,नारी-नरकान्ता,सुवर्ण-रूप्यकूला,रक्ता-रक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ॥ २० ॥

अर्थ—उन सात क्षेत्रोंके बीचसे बहनेवाली गंगा-सिन्धु, रोहित-रोहितास्या, हरित-हरिकान्ता, सीता-सीतोदा, नारी-नरकान्ता, सुवर्णकूला-रूप्यकूला, रक्ता-रक्तोदा ये चौदह नदियाँ हैं ॥ २० ॥

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥ २१ ॥

अर्थ—क्रमसे एक एक क्षेत्रमें दो दो नदियाँ बहती हैं। और उन दो दो नदियोंमेंसे पहली नदी पूर्व समुद्रको जाती है। अर्थात् गंगा, रोहित्, हरित्, सीता. नारी, सुवर्णकूला और रक्ता ये सात नदियाँ पूरबके समुद्रमें जा कर मिलती है ॥ २१॥

शेषास्त्वपरगाः ॥ २२ ॥

अर्थ—दो दो नदियोंमेंसे पीछेवाली नदी पश्चिम समुद्रको जाती है। अर्थात् सिन्धु, रोहितास्या, हरिकान्ता, सीतोदा, नरकांता, रूप्यकूला और रक्तोदा, ये सात नदियाँ पश्चिम समुद्रमें जा कर मिलती हैं।

विशेषार्थ—छै ह्रदोंसे चौदह नदियाँ निकली हैं। उनमें से पहले पद्मह्रद और छठे पुण्डरीक ह्रदसे तीन तीन नदियाँ निकली हैं। और शेष चारसे दो दो नदियाँ निकली हैं। सो पद्मह्रदके पूर्वद्वारसे गंगा नदी, पश्चिम द्वारसे सिन्धु नदी, और उत्तर द्वारसे

रोहितास्या नदी निकली है। दूसरे महापद्म ह्रदके दक्षिण द्वारसे रोहित और उत्तर द्वारसे हरिकान्ता नदी निकली है। तीसरे तिगिञ्छ ह्रदके दक्षिण द्वारसे हरित् और उत्तर द्वारसे सीतोदा नदी निकली है। चौथे केसरी ह्रदके दक्षिण द्वारसे सीता और उत्तर द्वारसे नरकान्ता नदी निकली है। पाँचवें महापुण्डरीक ह्रदके दक्षिण द्वारसे सुवर्णकूला, पूर्व द्वारसे रक्ता और पश्चिम द्वारसे रक्तोदा नदी निकली है ॥ २२ ॥

इन नदियोंका परिवार बतलाते हैं—

चतुर्दश-नदी-सहस्र परिवृता गङ्गा-सिन्ध्वादयो नद्यः ॥२३॥

अर्थ—गंगा और सिन्धु नदी चौदह चौदह हजार परिवार नदियोंसे घिरी हुई हैं। इस सूत्रमें जो 'नदी' शब्द दिया है वह यह बतलानेके लिए दिया है कि इन नदियोंका परिवार आगे आगे दूना दूना होता गया है। अतः रोहित् और रोहितास्याका परिवार नदी अट्ठाईस अट्ठाईस हजार है। हरित् और हरिकान्ताका परिवार नदी छप्पन छप्पन हजार है। सीता और सीतोदाका परिवार नदी एक लाख बारह हजार, एक लाख बारह हजार है ॥ २३ ॥

अब भरत क्षेत्रका विस्तार बतलाते हैं—

भरतः षड्विंशति-पञ्चयोजन-शत-विस्तारः षट्-चैकोनविंशति-भागा योजनस्य ॥ २४ ॥

अर्थ—भरत क्षेत्रका विस्तार पाँच सौ छब्बीस योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें से ६ भाग प्रमाण है। यह विस्तार दक्षिणसे उत्तर तक है ॥ २४ ॥

अन्य क्षेत्रोंका विस्तार बतलाते हैं—

तद्-द्विगुण-द्विगुण-विस्तारा वर्षधर-वर्षा विदेहान्ताः ॥ २५ ॥

अर्थ–आगेके पर्वत और क्षेत्र विदेह क्षेत्रतक भरत क्षेत्रसे दूने दूने विस्तारवाले हैं। अर्थात् हिमवान् पर्वत्का विस्तार भरत क्षेत्रसे दूना है। हिमवान् पर्वतके विस्तारसे हैमवत क्षेत्रका विस्तार दूना है। हैमवत क्षेत्रके विस्तारसे महाहिमवान् पर्वतका विस्तार दूना है। महाहिमवान् पर्वतसे हरिक्षेत्रका विस्तार दूना है। हरिक्षेत्रके विस्तारसे निषध पर्वतका विस्तार दूना है। और निषध पर्वतसे विदेह क्षेत्रका विस्तार दूना है ॥२५॥

आगेके पर्वतों और क्षेत्रोंका विस्तार वतलाते हैं—

उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥ २६ ॥

अर्थ–उत्तरके ऐरावतसे ले कर नील तक जितने क्षेत्र और पर्वत हैं, उनका विस्तार वगैरह दक्षिणके भरत आदि क्षेत्रोंके समान ही जानना चाहिए। यह नियम दक्षिण भागका जितना भी वर्णन किया है उस सबके सम्बन्धमें लगा लेना चाहिए। अतः उत्तरके ह्रद और कमल आदिका विस्तार वगैरह तथा नदियोंका परिवार वगैरह दक्षिणके समान ही जानना चाहिए। सारांश यह है कि भरत और ऐरावत, हिमवान् और शिखरी, हैमवत और हैरण्यवत महाहिमवान् और रुक्मि, हरिवर्ष और रम्यक तथा निषध और नीलका विस्तार, इनके ह्रदों और कमलोंकी लम्बाई चौड़ाई वगैरह तथा नदियोंके परिवारकी संख्या परस्परमें समान हैं ॥ २७ ॥

आगे भारत आदि क्षेत्रोंमें रहने वाले मनुष्योंकी स्थिति वगैरहका वर्णन करते हैं—

भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यव-
सर्पिणीभ्याम् ॥ २७ ।

अर्थ—भरत और ऐरावत क्षेत्रमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके छै समयोंके द्वारा मनुष्योंकी आयु, शरीरकी ऊँचाई, भोगोपभोग संपदा वगैरह घटती और बढ़ती रहती हैं। उत्सर्पिणीमें दिनोंदिन बढ़ती है और अवसर्पिणीमें दिनोंदिन घटती है।

विशेषार्थ—सुषम-सुषमा, सुषमा, सुषमा दुषमा, दुषमा सुषमा, दुषमा और दुषमा-दुषमा ये छै भेद अवसर्पिणी कालके हैं। और दुषमा-दुषमा, दुषमा, दुषमा सुषमा, सुषमा दुषमा, सुषमा और सुषमा सुषमा ये छै भेद उत्सर्पिणी कालके हैं। अवसर्पिणीका प्रमाण दस कोटी-कोटी सागर है। इतना ही प्रमाण उत्सर्पिणी कालका है। इन दोनों कालोंका एक कल्प काल होता है। सुषम-सुषमाका प्रमाण चार कोटी-कोटी सागर है। इसके प्रारम्भमें मनुष्योंकी दशा उत्तरकुरु भोग भूमिके मनुष्योंके समान रहती है। फिर क्रमसे हानि होते होते दूसरा सुषमा काल आता है वह तीन कोड़ा कोड़ी सागर तक रहता है। उसके प्रारम्भमें मनुष्योंकी दशा हरिवर्ष भोग भूमिके समान रहती है। फिर क्रमसे हानि होते होते तीसरा सुषम-दुषमा काल आता है। यह काल बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर तक रहता है। उसके प्रारम्भमें मनुष्योंकी दशा विदेह क्षेत्रके मनुष्योंके समान रहती है। फिर क्रमसे हानि होते होते पांचवां दुषमाकाल आता है जो इक्कीस हजार वर्ष तक रहता है। यह इस समय चल रहा है। इसके बाद छटा दुषमा-दुषमा काल आता है। यह भी इक्कीस हजार वर्ष रहता है। इस छठे कालके अन्तमें भरत और ऐरावत क्षेत्रके आर्यखण्डमें प्रलय काल आता है। इसमें वायु और वर्षाके वेगसे पहाड़ तक चूर चूर हो जाते हैं। मनुष्य मर जाते हैं। बहुतसे मनुष्य-युगल पर्वतोंकी कन्दराओंमें छिप कर अपनी रक्षा कर लेते हैं। फिर और

आगकी वर्षासे एक योजन नीचे तक भूमि चूर्ण हो जाती है। उसके बाद उत्सर्पिणी काल आता है। उसके आरम्भमें सात सप्ताह तक सुवृष्टि होती है। उससे पृथ्वीकी गर्मी शान्त हो जाती है और लता वृक्ष वगैरह उगने लगते हैं। तब इधर उधर छिपे हुए मनुष्य युगल अपने अपने स्थानोंसे निकल कर पृथ्वीपर बसने लगते हैं। इस तरह उत्सर्पिणीका प्रथम अति-दुषमा काल बीत जानेपर दूसरा दुषमा काल आ जाता है। इस कालके बीस हजार वर्ष बीतनेपर जब एक हजार वर्ष शेष रहते हैं तो कुलकर पैदा होते हैं जो मनुष्योंको कुलाचारकी तथा खाना पकाने वगैरहकी शिक्षा देते हैं। इसके बाद तीसरा दुषमा सुषमा काल आता है। इसमें तीर्थंकर वगैरह उत्पन्न होते हैं। इसके बाद उत्सर्पिणीके चौथे कालमें जघन्य भोगभूमि, पांचवेमें मध्यम भोगभूमि और छठेमें उत्कृष्ट भोग भूमि रहती हैं। उत्सर्पिणी काल समाप्त होनेपर पुनः अवसर्पिणी काल प्रारम्भ हो जाता है। उसके प्रथम कालमें उत्कृष्ट भोग भूमि, दूसरेमें मध्यम भोग भूमि तथा तीसरेमें जघन्य भोग भूमि रहती है। और चौथेसे कर्म-भूमि प्रारम्भ हो जाती है॥ २७॥

आगे शेष क्षेत्रोंकी दशा बतलाते हैं—

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥ २८ ॥

अर्थ—भरत और ऐरावतके सिवा अन्य क्षेत्र अवस्थित हैं। उनमें सदा एक सी ही दशा रहती है; हानि-वृद्धि नहीं होती॥ २८॥

इन क्षेत्रोंके मनुष्योंकी आयु बतलाते हैं—

एक-द्वि-त्रि-पल्योपम-स्थितयो हैमवतक-हारिवर्षक-
दैवकुरवकाः ॥ २९ ॥

अर्थ—हैमवत क्षेत्रके मनुष्योंकी आयु एक पल्यकी है। हरि

वर्ष क्षेत्रके मनुष्योंकी आयु दो पल्यकी है। और देवकुरुके मनुष्योंकी आयु तीन पल्यकी है।

विशेषार्थ—इन तीनों क्षेत्रोंमें सदा भोगभूमि रहती है। भोगभूमिके मनुष्य सदा युवा रहते हैं। उन्हें कोई रोग नहीं होता और न मरते समय कोई वेदना ही होती है। बस पुरुषको जंभाई और स्त्रीको छींक आती है और उसीसे उनका मरण हो जाता है। मरण होनेपर उनका शरीर कपूरकी तरह उड़ जाता है। भोगभूमिमें न पुण्य होता है और न पाप। हाँ, किन्हीं किन्हींको सम्यक्त्व अवश्य होता है। मरण होनेपर सम्यग्दृष्टि तो सौधर्म या ईशान स्वर्गमें देव होते हैं और मिथ्यादृष्टि भवनत्रिकमें जन्म लेते हैं। वहांके पशु भी मर कर देव होते हैं। उनमें परस्परमें ईर्षा द्वेष नहीं होता। सूर्यकी गर्मी पृथ्वी तक न आ सकनेके कारण वर्षा भी नहीं होती। कल्पवृक्षोंके द्वारा प्राप्त वस्तुओंसे ही मनुष्य अपना जीवन निर्वाह सानन्द करते हैं। वहां न कोई स्वामी है और न सेवक, न कोई राजा है और न प्रजा। प्राकृतिक साम्य-वादका सुख सभी भोगते हैं॥ २९॥

अब उत्तर जम्बूद्वीपके क्षेत्रोंकी स्थिति बतलाते हैं—

तथोत्तरा ॥ ३० ॥

अर्थ—दक्षिण जम्बूद्वीपके क्षेत्रोंकी जैसी स्थिति है वैसी ही उत्तर जम्बूद्वीपके क्षेत्रोंकी जाननी चाहिये। अर्थात् हैरण्यवत क्षेत्रके मनुष्योंकी स्थिति हैमवत क्षेत्रके मनुष्योंके समान है। रम्यक क्षेत्रके मनुष्योंकी स्थिति हरिवर्ष क्षेत्रके मनुष्योंके समान है। और उत्तर कुरुके मनुष्योंकी स्थिति देवकुरुके मनुष्योंके समान है॥ ३०॥

आगे विदेह क्षेत्रकी स्थिति बतलाते हैं—

विदेहेषु संख्येयकालाः ॥ ३१ ॥

अर्थ—पाँचों मेरु सम्बन्धी पाँच विदेह क्षेत्रोंमें मनुष्योंकी आयु संख्यात वर्षकी होती है।

विशेषार्थ—पाचों विदेहोंमें सदा सुषमादुषमा कालकी सी दशा रहती है। मनुष्योंके शरीरकी ऊँचाई अधिकसे अधिक पाँच सौ धनुष होती है। प्रतिदिन भोजन करते हैं। उत्कृष्ट आयु एक कोटी पूर्वकी है। और जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्तकी है। पूर्वका प्रमाण इस प्रकार कहा है—चौरासी लाख वर्षका एक पूर्वाङ्ग होता है और चौरासी लाख पूर्वाङ्गका एक पूर्व होता है। अतः चौरासी लाखको चौरासी लाखसे गुणा करनेपर ७०५६०००० ००००० संख्या आती है; इतने वर्षोंका एक पूर्व होता है। ऐसे एक कोटिपूर्वकी आयु कर्मभूमिमें होती है ॥ ३१ ॥

आगे दूसरी तरहसे भरत क्षेत्रका विस्तार बतलाते हैं—

भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः ॥ ३२॥

अर्थ—जम्बूद्वीपका विस्तार एक लाख योजन है। उसमें एक सौ नव्वेका भाग देनेपर एक भाग प्रमाण भरत क्षेत्रका विस्तार है। जो पहले बतलाया है।

विशेषार्थ—पहले भरत क्षेत्रका विस्तार पाँच सौ छब्बीस सही $\frac{६}{१९}$ योजन बतलाया है। सो जम्बूद्वीपके एक लाख योजन विस्तारका एक सौ नव्वेवाँ भाग है। क्यों कि जम्बूद्वीप सात क्षेत्रों और छै पर्वतोंमें बँटा हुआ है। उसमें भरतका एक भाग, हिमवान्के दो भाग, हैमवतके चार भाग, महाहिमवान्के आठ भाग, हरिवर्षके सोलह भाग, निषध पर्वतके बत्तीस भाग, विदेहके चौसठ भाग, नील पर्वतके बत्तीस भाग, रम्यकके सोलह भाग, रुक्मी पर्वतके आठ भाग, हैरण्यवत क्षेत्रके चार भाग, शिखरी पर्वतके दो भाग और ऐरावतका एक भाग है। इन सब भागोंका जोड़ १९० होता है।

इस तरह जम्बूद्वीपका वर्णन समाप्त हुआ। जम्बूद्वीपको घेरे हुए लवण समुद्र है। उसका विस्तार सब ओर दो लाख योजन है। लवण समुद्रको घेरे हुए धातकी-खण्ड नामका द्वीप है। उसका विस्तार सब ओर चार लाख योजन है॥ ३२॥

आगे धातकीखण्ड द्वीपकी रचना बतलाते हैं—

द्विर्धातकीखण्डे॥ ३३॥

अर्थ—धातकी खण्ड द्वीपमें भरत आदि क्षेत्र दो दो हैं।

विशेषार्थ—धातकीखण्डकी दक्षिण दिशा और उत्तर दिशामें दो इष्वाकार पर्वत हैं। वे दोनों पर्वत इषु यानी बाणकी तरह सीधे और दक्षिणसे उत्तर तक लम्बे हैं। उनकी लम्बाई द्वीपके बराबर यानी चार लाख योजन है। इसीसे वे एक ओर लवण समुद्रको छूते हैं तो दूसरी ओर कालोदधि समुद्रको छूते हैं। उनके कारण धातकी खण्डके दो भाग हो गये हैं—एक पूर्व भाग, दूसरा पश्चिम भाग। दोनों भागोंके बीचमें एक एक मेरुपर्वत है। और उनके दोनों ओर भरत आदि क्षेत्र तथा हिमवान् आदि पर्वत हैं। इस तरह वहाँ दो भरत, दो हिमवान् आदि हैं। उनकी रचना गाड़ीके पहियेकी तरह है। जैसे गाड़ीके पहियेमें जो डंडे लगे रहते हैं जिन्हें अर कहते हैं, उनके समान तो हिमवान् आदि पर्वत हैं। वे पर्वत सर्वत्र समान विस्तार वाले हैं। और अरोंके बीचमें जो खाली स्थान होता है उसके समान भरत आदि क्षेत्र हैं। क्षेत्र कालोदधिके पासमें अधिक चौड़े हैं और लवण समुद्रके पासमें कम चौड़े हैं। जम्बूद्वीपमें जिस स्थानपर जामुनका पार्थिव वृक्ष है धातकी खण्डमें उसी स्थानपर धातकी (धतूरा) का एक विशाल पार्थिव वृक्ष है। उसके कारण द्वीपका नाम धातकी खण्ड पड़ा है। धातकीखण्डको घेरे हुए कालोदधि समुद्र है।

उसका विस्तार आठ लाख योजन है। और कालोदधिको घेरे हुए पुष्करवर द्वीप है। उसका विस्तार सोलह लाख योजन है ॥३३॥

आगे पुष्करवर द्वीपका वर्णन करते हैं—

पुष्करार्धे च ॥ ३४ ॥

अर्थ—आधे पुष्करवर द्वीपमें भी भरत आदि क्षेत्र तथा हिमवान् आदि पर्वत दो दो हैं।

विशेषार्थ—पुष्करवर द्वीपके बीचमें चूड़ीके आकारका एक मानुषोत्तर पर्वत पड़ा हुआ है। उसके कारण द्वीपके दो भाग हो गये हैं। इसीसे आधे पुष्करवर द्वीपमें ही भरत आदिकी रचना बतलायी है। पुष्करार्धमें भी दक्षिण और उत्तर दिशामें दो इष्वाकार पर्वत हैं, जो एक ओर कालोदधिको छूते हैं तो दूसरी ओर मानुषोत्तर पर्वतको छूते हैं। इससे द्वीपके दो भाग हो गये हैं—एक पूर्व पुष्करार्ध और दूसरा पश्चिम पुष्करार्ध। दोनों भागोंके बीचमें एक एक मेरु पर्वत है। और उनके दोनों ओर भरत आदि क्षेत्र व पर्वत हैं। जहाँ जम्बूद्वीपमें जम्बूवृक्ष है, वहीं पुष्करार्धमें परिवार सहित पुष्कर वृक्ष है। उसीसे द्वीपका नाम पुष्कर द्वीप पड़ा है ॥ ३४ ॥

अब बतलाते हैं कि भारत आदि क्षेत्रोंकी रचना आधे ही पुष्कर द्वीपमें क्यों है ? समस्त पुष्कर द्वीपमें क्यों नहीं है ?—

प्राङ् मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥ ३५ ॥

अर्थ—मानुषोत्तर पर्वतसे पहले ही मनुष्य पाये जाते हैं। अर्थात् जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड और आधे पुष्कर द्वीप पर्यन्त ही मनुष्योंका आवास है। इन अढ़ाई द्वीपोंसे बाहर कोई भी ऋद्धिधारी या विद्याधर मनुष्य तक नहीं जा सकता। इसीसे मानुषोत्तर पर्वतके बाहरके द्वीपोंमें क्षेत्र वगैरहकी रचना भी नहीं पायी जाती है ॥ ३५ ॥

आगे मनुष्योंके दो भेद बतलाते हैं—

आर्या म्लेच्छाश्च ॥ ३६ ॥

अर्थ—मनुष्य दो प्रकारके हैं—आर्य और म्लेच्छ।

विशेषार्थ—आर्य मनुष्य भी दो प्रकारके हैं—एक ऋद्धि-धारी और दूसरे विना ऋद्धि वाले। जो आठ प्रकारकी ऋद्धियोंमें से किसी एक ऋद्धिके धारी होते हैं उन्हें ऋद्धि प्राप्त आर्य कहते हैं। और जिनको कोई ऋद्धि प्राप्त नहीं है वे विना ऋद्धिवाले आर्य कहलाते हैं। विना ऋद्धिवाले आर्य पांच प्रकारके होते हैं—क्षेत्र आर्य, जाति आर्य, कर्म आर्य, चारित्र आर्य, और दर्शन आर्य। काशी कोशल आदि आर्य क्षेत्रोंमें जन्म लेनेवाले मनुष्य क्षेत्र-आर्य हैं। इक्ष्वाकु, भोज, आदि वंशोंमें जन्म लेनेवाले मनुष्य जाति-आर्य हैं। कर्म आर्य तीन प्रकारके होते हैं—सावद्य-कर्म-आर्य, अल्प सावद्य-कर्म-आर्य और असावद्य कर्म आर्य। सावद्य कर्म आर्य छै प्रकारके होते हैं। जो तलवार आदि अस्त्र शस्त्रोंके द्वारा रक्षा अथवा युद्ध आदि करनेकी जीविका करते हैं वे असिकर्म आर्य हैं। जो आय व्यय आदि लिखनेकी आजीविका करते हैं वे मसिकर्म आर्य हैं। जो खेतीके द्वारा आजीविका करते हैं वे कृषिकर्म आर्य हैं। जो विविध कलाओंमें प्रवीण हैं और उनसे ही आजीविका करते हैं वे विद्याकर्म आर्य हैं। धोबी, नाई, कुम्हार, लुहार, सुनार वगैरह शिल्प-कर्म-आर्य हैं। वणिज् व्यापार करनेवाले वणिक्-कर्म-आर्य हैं। ये छहों सावद्य कर्मार्य हैं। उनमें जो अणुव्रती श्रावक होते हैं वे अल्प सावद्य कर्मार्य होते हैं। और पूर्ण संयमी साधु असावद्य कर्मार्य होते हैं। चारित्र आर्य दो प्रकारके होते हैं—एक, जो विना उपदेशके स्वयं ही चारित्रका पालन करते हैं और दूसरे, जो परके उपदेशसे चारित्रका पालन करते हैं। सम्यग्दृष्टि मनुष्य दर्शन आर्य हैं। ऋद्धि प्राप्त आर्योंके भी आठ प्रकारकी ऋद्धियोंके अनुसार

भेदोंकी अपेक्षासे बहुतसे भेद हैं जो विस्तारके भयसे यहाँ नहीं लिखे हैं।

म्लेच्छ दो प्रकारके होते हैं—अन्तर्द्वीपज और कर्म-भूमिज। लवण समुद्र और कालोदधि समुद्रके भीतर जो छयानवे द्वीप हैं उनके वासी मनुष्य अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ कहे जाते हैं। उनकी आकृति आहार विहार सभी असंस्कृत होता है। तथा म्लेच्छ खण्डोंके अधिवासी मनुष्य कर्म भूमिज म्लेच्छ कहे जाते हैं। आर्य खण्डमें भी जो भील आदि जंगली जातियाँ बसती हैं वे भी म्लेच्छ ही हैं॥ ३६॥

अब कर्मभूमियाँ बतलाते हैं—

भरतैरावत-विदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः ॥३७॥

अर्थ—पांचों मेरु सम्बन्धी पांच भरत, पांच ऐरावत और देवकुरु तथा उत्तरकुरुके सिवा शेष पांच विदेह, ये पन्द्रह कर्म-भूमियाँ हैं। और पांचों मेरु सम्बन्धी पांच हैमवत, पांच हरिवर्ष, पांच हैरण्यवत, पांच देवकुरु और पांच उत्तरकुरु, ये तीस भोग-भूमियाँ हैं। इनमें दस उत्कृष्ट भोग भूमि हैं, दस मध्यम हैं और दस जघन्य हैं। इनमें दस प्रकारके कल्पवृक्षोंके द्वारा प्राप्त भोगोंका ही प्राधान्य होनेसे इन्हें भोगभूमि कहते हैं। तथा भरतादिक पन्द्रह क्षेत्रोंमें बड़ेसे बड़ा पापकर्म और बड़ेसे बड़ा पुण्य कर्म अर्जित किया जा सकता है जिससे जीव मर कर सातवें नरकमें और सर्वार्थ-सिद्धिमें भी जा सकता है। तथा इन क्षेत्रोंमें षट् कर्मोंके द्वारा आजीविका की जाती है। इसलिए कर्मकी प्रधानता होनेसे इन्हें कर्मभूमि कहते हैं॥ ३७॥

आगे मनुष्योंकी आयु बतलाते हैं—

नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥ ३८ ॥

अर्थ—मनुष्योंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य की है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त की है।

विशेषार्थ—प्रमाण दो प्रकारका होता है-एक संख्या रूप दूसरा उपमारूप जिसका आधार एक, दो आदि, संख्या होती है उसे संख्या प्रमाण कहते हैं। और जो संख्याके द्वारा न गिना जा कर किसी उपमाके द्वारा आंका जाता है उसे उपमा प्रमाण कहते हैं। उसीका एक भेद पल्य है। पल्य गढ़ेको कहते हैं। उसके तीन भेद हैं—व्यवहार पल्य, उद्धार पल्य, अद्धापल्य। एक योजन लम्बा चौड़ा और एक योजन गहरा गोल गढ़ा खोदो। एक दिनसे लेकर सात दिन तकके जन्मे हुए भेड़के वालोंके अग्रभागोंको कैंचीसे इतना बारीक काटो कि फिर उन्हें काट सकना सम्भव न हो। उन वालके टुकड़ोंसे उस गढ़ेको खूब ठोक कर मुंह तक भर दो। उसे व्यवहार पल्य कहते हैं। इस व्यवहार पल्यके रोमोंमेंसे सौ सौ वर्षके बाद एक एक रोम निकालने पर जितने कालमें वह गढ़ा रोमोंसे खाली हो जाये, उतने कालको व्यवहार पल्योपम काल कहते हैं। व्यवहार पल्यके रोमोंमेंसे प्रत्येक रोमके बुद्धिके द्वारा इतने टुकड़े करो जितने असंख्यात कोटि वर्षके समय होते हैं। और फिर उन रोमोंसे एक योजन लम्बे चौड़े और एक योजन गहरे गढ़ेको भर दो। उसे उद्धार पल्य कहते हैं। उसमेंसे प्रति समय एक एक रोमके निकालने पर जितने कालमें वह गढ़ा रोमोंसे शून्य हो जाये उतने कालको उद्धार पल्योपम कहते हैं। उद्धार पल्यके रोमोंमेंसे प्रत्येक रोमके कल्पनाके द्वारा पुनः इतने टुकड़े करो जितने सौ वर्षके समय होते हैं। और उन रोमोंसे पुनः उक्त विस्तार वाले गढ़ेको भर दो। उसे अद्धा पल्य कहते हैं। उस अद्धा पल्यके रोमोंमेंसे प्रति समय एक एक रोम निकालने पर जितने कालमें वह गढ़ा खाली हो उतने कालको अद्धा पल्योपम कहते हैं। इन तीन पल्योंमेंसे पहला

व्यवहार पल्य तो केवल दो पल्योंके निर्माणका मूल है, उसीके आधार पर उद्धार पल्य और अद्धा पल्य बनते हैं। इसीसे उसे व्यवहार पल्य नाम दिया गया है। उद्धार पल्यके रोमोंके द्वारा द्वीप और समुद्रोंकी संख्या जानी जाती है। और अद्धा पल्यके द्वारा नारकियोंकी, तिर्यञ्चोंकी, देवों और मनुष्योंकी आयु, कर्मोंकी स्थिति आदि जानी जाती है। इसीसे इसे अद्धा पल्य कहते हैं, क्योंकि 'अद्धा' नाम कालका है। दस कोड़ा कोड़ी अद्धा पल्यका एक अद्धा सागर होता है। और दस अद्धा सागरका एक अवसर्पिणी या उत्सर्पिणी काल होता है॥ ३८ ॥

अब तिर्यञ्चोंकी स्थिति बतलाते हैं—

तिर्यग्योनिजानां च ॥ ३९ ॥

अर्थ—तिर्यञ्चोंकी भी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है।

विशेपार्थ—तिर्यञ्च तीन प्रकारके होते हैं—एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय। एकेन्द्रियोंमें शुद्ध पृथिवी कायिक जीवोंकी आयु बारह हजार वर्ष होती है। खर पृथिवी कायकी आयु बाईस हजार वर्ष होती है। जलकायिक जीवोंकी आयु सात हजार वर्ष, वायुकायिककी तीन हजार वर्ष और वनस्पति कायिककी दस हजार वर्ष उत्कृष्ट आयु होती है। अग्नि कायिककी आयु तीन दिन रात होती है। विकलेन्द्रियोंमें, दो इन्द्रियोंकी उत्कृष्ट आयु बारह वर्ष, तेइन्द्रियोंकी उनचास रात दिन और चौइन्द्रियोंकी छै

मास होती है। पञ्चेन्द्रियोंमें जलचर जीवोंकी उत्कृष्ट आयु एक पूर्व कोटि, गोधा नकुल वगैरहकी नौ पूर्वाङ्ग, सर्पोंकी बयालीस हजार वर्ष, पक्षियोंकी बहत्तर हजार वर्ष और चौपायोंकी तीन पल्य होती है। तथा सभीकी जघन्य आयु एक अन्तर्मुहूर्तकी होती है॥ ३६॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥



अथ चतुर्थोऽध्यायः

अब देवोंका वर्णन करते हैं—

देवाश्चतुर्णिकायाः ॥ १ ॥

अर्थ—निकाय समूहको कहते हैं। देवोंके चार निकाय यानी समूह हैं—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक ॥१॥

देवोंकी लेश्या बतलाते हैं—

आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः ॥ २ ॥

अर्थ—भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क इन तीन निकायोंमें कृष्ण, नील, कापोत और पीत, ये चार लेश्याएँ होती हैं ॥२॥

इन निकायोंके अवान्तर भेद बतलाते हैं—

दशाष्ट-पञ्च-द्वादशविकल्पाः कल्पोपन्नपर्यन्ताः ॥ ३ ॥

अर्थ—भवनवासी देवोंके दस भेद हैं, व्यन्तरोंके आठ भेद हैं, ज्योतिषी देवोंके पांच भेद हैं और वैमानिक देवोंमें से जो कल्पोपन्न अर्थात् सोलह स्वर्गोंके वासी देव हैं, उनके बारह भेद हैं ॥ ३ ॥

देवोंके विषयोंमें और भी कहते हैं—

इन्द्र-सामानिक-त्रायस्त्रिंश-पारिषद्-आत्मरक्ष-लोकपाला-नीक-प्रकीर्णकाभियोग्य-किल्विषिकाश्चैकशः ॥४॥

अर्थ—देवोंकी प्रत्येक निकायमें इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश,

पारिषद्, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक ये दस दस भेद होते हैं।

विशेषार्थ—अन्य देवोंमें न पायी जानेवाली अणिमा आदि ऋद्धियोंके द्वारा जो परम ऐश्वर्यको भोगता है, देवोंके उस स्वामी-को इन्द्र कहते हैं। जिनकी आयु, शक्ति, परिवार तथा भोगोपभोग वगैरह इन्द्रके समान ही होते हैं, किन्तु जो आज्ञा और ऐश्वर्यसे हीन होते हैं उन्हें सामानिक कहते हैं। ये पिता, गुरु या उपाध्यायके समान माने जाते हैं। मंत्री और पुरोहितके समान जो देव होते हैं, उन्हें त्रायस्त्रिंश कहते हैं। इनकी संख्या तैंतीस होती है इसीसे इन्हें 'त्रायस्त्रिंश' कहा जाता है। इन्द्रकी सभाके सदस्य देवोंको पारिषद् कहते हैं। इन्द्रकी सभामें जो देव शस्त्र लिये इन्द्रके पीछे खड़े होते हैं उन्हें आत्मरक्ष कहते हैं। यद्यपि इन्द्रको किसी शत्रुका भय नहीं है फिर भी यह ऐश्वर्यका द्योतक है। कोतवालके तुल्य देवोंको लोकपाल कहते हैं। पैदल, अश्व, वृषभ, रथ, हाथी, गन्धर्व और नर्तकी इस सात प्रकारकी सेनाके देव अनीक कहे जाते हैं। पुरवासी या देशवासी जनताके समान देवोंको प्रकीर्णक (प्रजाजन) कहते हैं। हाथी, घोड़ा, सवारी वगैरह बन कर जो देव दासके समान सेवा करते हैं उन्हें आभियोग्य कहते हैं। चाण्डालकी तरह दूर ही रहनेवाले पापी देवोंको किल्विषिक कहते हैं। ये दस भेद प्रत्येक निकायमें होते हैं॥ ४॥

उक्त कथनमें थोड़ा अपवाद है, जो बतलाते हैं—

त्रायस्त्रिंश-लोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः॥ ५॥

अर्थ—व्यन्तर और ज्योतिष्क देवोंमें त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नहीं होते। शेष आठ भेद ही होते हैं॥ ५॥

अब इन्द्रका नियम बतलाते हैं—

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥ ६ ॥

अर्थ—पहलेकी दो निकायोंमें दो दो इन्द्र होते हैं। अर्थात् दस प्रकारके भवनवासियोंके बीस इन्द्र हैं और आठ प्रकारके व्यन्तरोंके सोलह इन्द्र हैं। इस तरह प्रत्येक निकायके प्रत्येक भेदमें दो दो इन्द्र होते हैं ॥ ६ ॥

देवोंके काम सेवनका ढंग बतलाते हैं—

कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥ ७ ॥

अर्थ—मैथुन सेवनका नाम प्रवीचार है। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क देव और सौधर्म तथा ऐशान स्वर्गके देव अपनी अपनी देवांगनाओंके साथ मनुष्यकी तरह शरीरसे मैथुन सेवन करते हैं ॥ ७ ॥

शेष स्वर्गोंके देवोंके विषयमें कहते हैं—

शेषाः स्पर्श-रूप-शब्द-मनः प्रवीचाराः ॥ ८ ॥

अर्थ—शेष स्वर्गोंके देव स्पर्श, रूप, शब्द और मनसे ही मैथुन सेवन करते हैं। अर्थात् सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गके देव अपनी अपनी देवियोंके आलिंगन मात्रसे ही परम सन्तुष्ट हो जाते हैं। यही बात देवियोंकी भी है। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव और कापिष्ठ स्वर्गके देव अपनी अपनी देवियोंके सुन्दर रूप, शृङ्गार, विलास वगैरहके देखने मात्रसे ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार स्वर्गके देव अपनी अपनी देवियोंके मधुर गीत, कोमल हास्य, मीठे वचन तथा आभूषणोंका शब्द सुननेसे ही तृप्त हो जाते हैं। आनत, प्राणत, आरण और अच्युत स्वर्गके देव अपनी अपनी देवियोंका मनमें चिन्तन कर लेनेसे ही शान्त हो जाते हैं ॥ ८ ॥

सोलह स्वर्गोंसे ऊपरके देवोंमें किस प्रकारका सुख है, यह बतलाते हैं—

परेऽप्रवीचाराः ॥ ९ ॥

अर्थ—यहाँ 'पर' शब्दसे समस्त कल्पातीत देवोंका ग्रहण किया गया है। अतः अच्युत स्वर्गसे ऊपर नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश और पाँच अनुत्तरोंमें रहनेवाले अहमिन्द्र देवोंमें कामसेवन नहीं है, क्योंकि वहाँ देवाङ्गनाएँ नहीं होती। अतः काम भोगरूप वेदनाके न होनेसे ऊपरके देव परम सुखी हैं ॥ ९ ॥

अब भवनवासी देवोंके दस भेद बतलाते हैं—

भवनवासिनोऽसुर-नाग-विद्युत्-सुपर्णाग्नि-वात-स्तनितोदधि-द्वीप-दिक्कुमाराः ॥ १० ॥

अर्थ—जो देव भवनोंमें निवास करते हैं, उन्हें भवनवासी कहते हैं। भवनवासी देव दस प्रकारके होते हैं—असुर कुमार, नाग कुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्ण कुमार, अग्नि कुमार, वात कुमार, स्तनित कुमार, उदधि कुमार, द्वीप कुमार और दिक्कुमार।

विशेषार्थ—यद्यपि सभी देवोंकी जन्मसे लेकर मरण तक एक सी अवस्था रहती है। अतः अवस्थासे सभी कुमार हैं। किन्तु भवनवासी देवोंकी वेषभूषा, अस्त्र शस्त्र, बात चीत, खेलना कूदना वगैरह कुमारोंकी तरह ही होता है इसलिए इनको कुमार कहते हैं। उक्त रत्नप्रभा पृथ्वीके पङ्क बहुल भागमें असुरकुमारोंके भवन बने हुए हैं, और इसीके खर भागमें बाकीके नौ कुमारोंके भवन हैं। उन्हींमें वे रहते हैं। इसीसे इन्हें भवनवासी कहते हैं ॥ १० ॥

अब व्यन्तर देवोंके आठ भेद बतलाते हैं—

व्यन्तराः किन्नर-किम्पुरुष-महोरग-गंधर्व-यक्ष-राक्षस-भूत-पिशाचाः ॥ ११ ॥

अर्थ—अनेक स्थानोंपर जिनका निवास है उन देवोंको व्यन्तर कहते हैं। व्यन्तरोंके आठ भेद हैं—किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच।

विशेषार्थ—वैसे तो उक्त रत्नप्रभा पृथ्वीके खर भागमें राक्षसोंके सिवा शेष सात प्रकारके व्यन्तरोंका आवास है और पंक बहुल भागमें राक्षसोंका आवास है किन्तु पृथ्वीके ऊपर अनेक द्वीप, पर्वत समुद्र, गाँव, नगर, देवालय, चौराहे वगैरहमें भी इनका स्थान बतलाया है। इसीसे विविध स्थानोंके निवासी होनेके कारण उन्हें व्यन्तर कहते हैं ॥ ११ ॥

अब ज्योतिष्क देवोंके भेद कहते हैं—

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रह-नक्षत्र-प्रकीर्णक-तारकाश्च ॥१२॥

अर्थ—ज्योतिष्क देव पाँच प्रकारके होते हैं—सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और सर्वत्र फैले हुए तारे। चूँकि ये सब चमकीले होते हैं इसलिए इन्हें ज्योतिष्क कहते हैं।

विशेषार्थ—सूर्य और चन्द्रमाका प्राधान्य बतलानेके लिए उन्हें सूत्रमें अलगसे रखा गया है, क्योंकि ग्रह वगैरहसे उनका प्रभाव वगैरह अधिक है। इनमें चन्द्रमा इन्द्र है और सूर्य प्रतीन्द्र है। ये सब ज्योतिष्क देव मध्य लोकमें रहते हैं। धरातलसे सात सौ नब्बे योजन ऊपर तारे विचरण करते हैं। वे सब ज्योतिष्क देवोंके नीचे हैं। तारोंसे दस योजन ऊपर सूर्यका विमान है। सूर्यसे अस्सी योजन ऊपर चन्द्रमा है। चन्द्रमासे चार योजन ऊपर नक्षत्र हैं। नक्षत्रोंसे चार योजन ऊपर बुधका विमान है। बुधसे तीन योजन

ऊपर शुक्रका विमान है। शुक्रसे तीन योजन ऊपर बृहस्पति है बृहस्पतिसे तीन योजन ऊपर मंगल है और मंगलसे तीन योजन ऊपर शनैश्चर है। इस तरह एक सौ दस योजनकी मोटाईमें सब ज्योतिषी देव रहते हैं तथा तिर्यक् रूपसे ये घनोदधि वातवलय तक फैले हुए हैं ॥ १२ ॥

ज्योतिष्क देवोंका गमन बतलाते हैं—

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥ १३ ॥

अर्थ—ज्योतिषी देव मनुष्य लोकमें मेरुकी प्रदक्षिणा रूपसे सदा गमन करते रहते हैं।

विशेषार्थ—अढ़ाई द्वीप और दो समुद्रोंको मनुष्य लोक कहते हैं। मनुष्य लोकके ज्योतिषी देव मेरुसे ग्यारह सौ इक्कीस योजन दूर रह कर उसके चारों ओर सदा घूमते रहते हैं। जम्बूद्वीपमें दो, लवण समुद्रमें चार, धातकी खंडमें बारह, कालोदधिमें बयालीस और पुष्करार्धमें बहत्तर चन्द्रमा हैं। और एक चन्द्रमाके परिवारमें एक सूर्य, अठासी ग्रह, अठाईस नक्षत्र, और छियासठ हजार नौ सौ पचहत्तर कोड़ा कोड़ी तारे होते हैं ॥ १३ ॥

ज्योतिषी देवोंके गमनसे ही कालका व्यवहार होता है यह बतलाते हैं—

तत्कृतः कालविभागः ॥ १४ ॥

अर्थ—उन ज्योतिषी देवोंके गमनसे कालका विभाग होता है।

विशेषार्थ—काल दो प्रकारका है—व्यवहार काल और निश्चय काल। सैकिण्ड, मिनिट, घड़ी, मुहूर्त, दिन, रात, पक्ष, मास, वर्ष वगैरहको व्यवहार काल कहते हैं। यह व्यवहार काल सूर्य चंद्रमाकी

गतिसे ही जाना जाता है तथा इसीसे निश्चयकालका बोध होता है, जिसका वर्णन आगे पांचवे अध्यायमें किया है ॥ १४ ॥

मनुष्य लोकके वाहर ज्योतिपी देवोंकी स्थिति बतलाते हैं—

बहिरवस्थिताः ॥ १५ ॥

अर्थ—मनुष्य लोकके बाहर ज्योतिपी देव अवस्थित हैं—गमन नहीं करते हैं।

[शंका—मनुष्य लोकमें ज्योतिपी देवोंका नित्य गमन बतलानेसे ही यह ज्ञात हो जाता है कि वाहरके ज्योतिषी देव गमन नहीं करते। फिर इस वातको बतलानेके लिए 'वहिरवस्थिताः' सूत्र बनाना व्यर्थ है।

समाधान—यह सूत्र व्यर्थ नहीं है, क्योंकि मनुष्यलोकसे वाहर ज्योतिषी देवोंका अस्तित्व ही अभी सिद्ध नहीं है। अतः मनुष्य लोकसे बाहर भी ज्योतिपी देव हैं और वे चलते नहीं हैं ये दोनों वातें वतलानेके लिए ही 'वहिरवस्थिताः' सूत्र कहा है] ॥ १५ ॥

तीन निकायोंका वर्णन करके अब चौथी निकायका वर्णन करत हैं—

वैमानिकाः ॥ १६ ॥

अर्थ—जिनमें रहने वाले जीव विशेप रूपसे पुण्यशाली माने जाते हैं उन्हें विमान कहते हैं। और विमानोंमें जो देव उत्पन्न होते हैं उन्हें वैमानिक कहते हैं।

विशेपार्थ—यह सूत्र अधिकार सूचक है। यह वतलाता है कि आगे वैमानिक देवोंका वर्णन किया जायेगा। विमान तीन प्रकारके होते हैं—इन्द्रक, श्रेणीवद्ध और पुष्प प्रकीर्णक। जो विमान इन्द्रकी तरह अन्य विमानोंके बीचमें रहता है उसे इन्द्रक विमान

कहते हैं। उसकी चारों दिशाओंमें कतार बद्ध जो विमान होते हैं वे श्रेणीबद्ध कहे जाते हैं। और विदिशाओंमें जहां तहां बिखरे फूलोंकी तरह जो विमान होते हैं उन्हें पुष्प प्रकीर्णक विमान कहते हैं ॥ १६ ॥

आगे वैमानिक देवोंके भेद कहते हैं—

कल्पोपन्नाः कल्पातीताश्च ॥ १७ ॥

अर्थ—वैमानिक देवोंके दो भेद हैं-कल्पोपन्न और कल्पातीत। जहां इन्द्र आदिकी कल्पना होती है उन सोलह स्वर्गोंको कल्प कहते हैं। और जहां इन्द्र आदिकी कल्पना नहीं होती, उन ग्रैवेयक वगैरहको कल्पातीत कहते हैं ॥ १७ ॥

इनकी अवस्थिति बतलाते हैं—

उपर्युपरि ॥ १८ ॥

अर्थ—ये कल्प आदि ऊपर ऊपर हैं ॥ १८ ॥

अब उन कल्प आदिका नाम बतलाते हैं जिनमें वैमानिक देव रहते हैं—

सौधर्मैशान-सानत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर-लान्तव-कापिष्ठ-शुक्र-महाशुक्र-शतार-सहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजय-वैजयन्त-जयन्ता-पराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥ १९ ॥

अर्थ—सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण, अच्युत, इन सोलह स्वर्गोंमें, इनके ऊपर नौ ग्रैवेयकोंमें,

नौ अनुदिशोंमें और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन पांच अनुत्तर विमानोंमें वैमानिक देव रहते हैं।

विशेषार्थ—भूमितलसे निन्यानवे हजार चालीस योजन ऊपर जानेपर सौधर्म और ऐशान कल्प आरम्भ होता है। उसके प्रथम इन्द्रक विमानका नाम ऋतु है। वह ऋतु विमान सुमेरु पर्वतके ठीक ऊपर एक बालके अग्रभागका अन्तराल देकर ठहरा हुआ है। उसका विस्तार ढाई द्वीपके बराबर पैंतालिस लाख योजन है। उसकी चारों दिशाओंमें बासठ बासठ पंक्ति बद्ध विमान हैं और विदिशाओंमें बहुतसे प्रकीर्णक विमान हैं। उसके ऊपर असंख्यात योजनका अन्तराल देकर दूसरा पटल है। उसमें भी बीचमें एक इन्द्रक विमान है। उसकी चारों दिशाओंमें इकसठ इकसठ श्रेणी-बद्ध विमान हैं और विदिशाओंमें प्रकीर्णक विमान हैं। इस तरह असंख्यात असंख्यात योजनका अन्तराल देकर डेढ़ राजुकी ऊँचाईमें इकतीस पटल हैं। इन इकतीस पटलोंके पूरब, पश्चिम और दक्षिण दिशाके श्रेणीबद्ध विमान तथा इन्द्रक और पूरब दक्षिण दिशाके और दक्षिण पश्चिम दिशाके श्रेणीबद्धोंके बीचमें जो प्रकीर्णक हैं वे सौधर्म स्वर्गमें गिने जाते हैं। और उत्तर दिशाके श्रेणीबद्ध तथा पश्चिम-उत्तर और उत्तर-पूर्व दिशाके श्रेणीबद्धोंके बीचके प्रकीर्णक ऐशान स्वर्गमें गिने जाते हैं। इकतीसवें पटलसे ऊपर असंख्यात योजनका अन्तराल देकर सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्प प्रारम्भ हो जाते हैं। उनके सात पटल हैं जो डेढ़ राजुकी ऊँचाईमें हैं। यहाँ भी तीन दिशाओंकी गिनती सानत्कुमार स्वर्गमें और उत्तर दिशाकी गिनती माहेन्द्र कल्पमें की जाती है। इसी तरह ऊपरके छह कल्पयुगलोंमें भी समझ लेना चाहिये। ये युगल ऊपर ऊपर आधे आधे राजुकी ऊँचाईमें हैं। इस तरह छे राजुकी ऊँचाईमें सोलह स्वर्ग हैं। उनके ऊपर एक राजुकी ऊँचाईमें नौ ग्रैवेयक,

नौ अनुदिश और पांच अनुत्तर ऊपर ऊपर हैं। इन सबके मिलाकर कुल त्रेसठ पटल हैं।

सोलह स्वर्गोंके बारह इन्द्र हैं-प्रारम्भके और अन्तके चार स्वर्गोंमें तो प्रत्येकमें एक एक इन्द्र है। और बीचके आठ स्वर्गोंमें दो दो स्वर्गोंका एक एक इन्द्र है। इस तरह सब इन्द्र बारह हैं। इनमें सौधर्म, सानत्कुमार, ब्रह्म, शुक्र, आनत और आरण ये छे दक्षिणेन्द्र हैं। और ऐशान, माहेन्द्र, लांतव, शतार, प्राणत और अच्युत ये छे उत्तरेन्द्र हैं ॥ १९ ॥

वैमानिक देवोंमें परस्परमें क्या विशेषता है यह बतलाते हैं—

स्थिति-प्रभाव-सुख-द्युति-लेश्याविशुद्धीन्द्रियावधि-
विषयतोऽधिकाः ॥ २० ॥

अर्थ—वैमानिक देव स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्याकी विशुद्धि, इन्द्रियोंका विषय तथा अवधि ज्ञानका विषय, इन बातोंमें ऊपर ऊपर अधिक हैं।

विशेषार्थ—आयु कर्मके उदयसे उस भवमें रहना स्थिति है। दूसरोंका बुरा भला करनेकी शक्तिको प्रभाव कहते हैं। साता वेदनीय कर्मके उदयसे इन्द्रियोंके विषयोंको भोगना सुख है। शरीर, वस्त्र और आभूषणों वगैरहकी चमकको द्युति कहते हैं। लेश्याकी निर्मलताको लेश्या-विशुद्धि कहते हैं। प्रत्येक कल्प और प्रत्येक कल्पके प्रत्येक पटलके वैमानिक देव इन बातोंमें अपने नीचेके देवोंसे अधिक अधिक हैं। तथा इनकी इन्द्रियोंका और अवधि ज्ञानका विषय भी ऊपर ऊपर अधिक है ॥ २० ॥

गति-शरीर-परिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥ २१ ॥

अर्थ—तथा वैमानिक देव गति, शरीरकी ऊंचाई, परिग्रह और अभिमानमें ऊपर ऊपर हीन हैं।

विशेषार्थ–जो जीवको एक स्थानसे दूसरे स्थानमें ले जाती है उसे गति यानी गमन कहते हैं। लोभ कषायके उदयसे विषयोंमें जो ममत्व होता है उसका नाम परिग्रह है। मान कषायसे उत्पन्न होनेवाले अहंकारका नाम अभिमान है। यद्यपि ऊपर ऊपरके देवोंमें गमन करनेकी शक्ति अधिक अधिक है परन्तु देशान्तरमें जाकर क्रीड़ा वगैरह करनेकी उत्कट लालसा नहीं है इसलिए ऊपर ऊपरके देवोंमें देशान्तर गमन कम कम पाया जाता है। शरीरकी ऊँचाई भी ऊपर ऊपर घटती गयी है। सौधर्म ऐशानके देवोंका शरीर सात हाथ ऊँचा है। सानत्कुमार माहेन्द्रमें छ हाथ ऊँचा है। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठमें पाँच हाथ ऊँचा है। शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रारमें चार हाथ ऊँचा है। आनत प्राणतमें साढ़े तीन हाथ और आरण अच्युतमें तीन हाथ ऊँचा है। अधो ग्रैवेयकोंमें सवा दो हाथ, मध्य ग्रैवेयकोंमें दो हाथ, और ऊपरिम ग्रैवेयकोंमें तथा नौ अनुदिशोंमें डेढ़ हाथ ऊँचा है। और पाँच अनुत्तरोंमें एक हाथ ऊँचा शरीर है। विमान वगैरह परिग्रह भी ऊपर ऊपर कम है। कषायकी मन्दता होनेसे ऊपर ऊपर अभिमान भी कम है; क्योंकि जिनकी कषाय मन्द होती है वे ही जीव ऊपर ऊपरके कल्पोंमें जन्म लेते हैं। इसका खुलासा इस प्रकार है–असैनी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यञ्च अपने शुभ परिणामोंसे पुण्य कर्मका बन्ध करके भवनवासी और व्यन्तर देवोंमें उत्पन्न होते हैं। सैनी पर्याप्त कर्म भूमिया तिर्यञ्च यदि मिथ्यादृष्टि या सासादन सम्यग्दृष्टि हों तो भवनत्रिकमें जन्म लेते हैं और यदि सम्यग्दृष्टि हों तो पहले या दूसरे स्वर्गमें जन्म लेते हैं। कर्मभूमिया मनुष्य यदि मिथ्यादृष्टि या सासादन सम्यग्दृष्टि हों तो भवनवासीसे लेकर उपरिम ग्रैवेयक तक जन्म ले सकते हैं। किन्तु जो द्रव्यसे जिनलिंगी होते हैं वे ही मनुष्य ग्रैवेयक तक जा

सकते हैं। तथा अभव्य मिथ्यादृष्टि भी जिनलिंग धारण करके तपके प्रभावसे उपरिम ग्रैवेयक तक मरकर जा सकता है। परिव्राजक तापसी मर कर पाँचवें स्वर्गतक जन्म ले सकते हैं। आजीवक सम्प्रदायके साधु बारहवें स्वर्गतक जन्म ले सकते हैं। बारहवें स्वर्गसे ऊपर अन्य लिंगवाले साधु उत्पन्न नहीं होते। निर्ग्रन्थ लिंगके धारक यदि द्रव्यलिंगी हों तो उपरिम ग्रैवेयक तक और भावलिंगी हो तो सर्वार्थसिद्धितक जन्म ले सकते हैं। तथा श्रावक पहलेसे लेकर सोलहवें स्वर्गतक ही जन्म ले सकता है। इस तरह जैसी जैसी कषायकी मन्दता होती है उसीके अनुसार ऊपर ऊपरके कल्पोंमें जन्म होता है। इसीसे ऊपरके देव मंदकषायी होते हैं ॥ २१ ॥

अब वैमानिक देवोंकी लेश्या बतलाते हैं—

पीत-पद्म-शुक्ल लेश्या द्वि-त्रि-शेषेषु ॥ २२ ॥

अर्थ—सौधर्म और ऐशान स्वर्गके देवोंमें पीत लेश्या है। सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गके देवोंमें पीत और पद्म लेश्या है। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव और कापिष्ट स्वर्गमें पद्म लेश्या है। शुक्र महाशुक्र, शतार और सहस्रारमें पद्म और शुक्ल लेश्या है। शेष आनत आदि कल्पोंमें शुक्ल लेश्या है। उनमें भी अनुदिश और अनुत्तरोंमें परम शुक्ल लेश्या है ॥ २२ ॥

कल्प संज्ञा किसकी है यह बतलाते हैं—

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥ २३ ॥

अर्थ—सौधर्मसे लेकर ग्रैवेयकसे पहले पहले अर्थात् सोलहवें स्वर्गतक कल्प संज्ञा है; क्योंकि जिनमें इन्द्र वगैरहकी कल्पना पायी जाती है इन्हींको कल्प संज्ञा है। आगे नौ ग्रैवेयक, नौ

अनुदिश और पाँच अनुत्तर कल्पातीत हैं; क्योंकि अहमिन्द्र होनेसे उनमें इन्द्र आदिकी कल्पना नहीं है॥ २३ ॥

अब लौकान्तिक देवोंका कथन करते हैं—

ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः ॥ २४ ॥

अर्थ–ब्रह्मलोक नामके पाँचवें स्वर्गमें रहनेवाले देव लौकान्तिक हैं। उनका लौकान्तिक नाम सार्थक है; क्योंकि लोक यानी ब्रह्मलोक, उसके अंतमें जो रहते हैं वे लौकांतिक हैं। अभिप्राय यह है कि जिन विमानोंमें लौकांतिक रहते हैं वे विमान ब्रह्मलोकके अंतमें हैं। अथवा लोक यानी संसार। उसका अंत जिनके आ गया है वे लौकांतिक देव हैं; क्योंकि लौकांतिक देव मर कर और एक जन्म ले कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं ॥२४ ॥

लौकान्तिक देवोंके भेद कहते हैं–

सारस्वतादित्य-वह्न्यरुण-गर्दतोय-तुषिता-
व्याबाधारिष्टाश्च॥२५॥

अर्थ–सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट, ये आठ प्रकारके लौकान्तिक देव हैं, जो ब्रह्मलोक स्वर्गकी पूर्वोत्तर आदि आठ दिशाओंमें क्रमसे रहते हैं। ये सभी स्वतंत्र हैं, किसी इन्द्रके आधीन नहीं है। सब समान हैं इनमें कोई छोटा और कोई बड़ा नहीं है। विषयोंसे विरक्त हैं इसीसे इन्हें देवर्षि कहते हैं। अन्य देव इनकी बड़ी प्रतिष्ठा करते हैं। ये चौदह पूर्वके पाठी होते हैं और जब तीर्थङ्करोंको वैराग्य होता है तो उस समय उन्हें प्रतिबोधन करनेके उद्देश्यसे उनके पास जाते हैं ॥२५॥

जो देव मनुष्यके दो भव धारण करके मोक्ष जाते हैं उन्हें बतलाते हैं–

विजयादिषु द्विचरमाः ॥२६॥

अर्थ—यहां आदि शब्द प्रकार वाची है। अतः जो देव अहमिन्द्र होनेके साथ साथ जन्मसे सम्यग्दृष्टि ही होते हैं उनका यहां आदि शब्दसे ग्रहण किया है। इस लिए विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और नौ अनुदिश विमानोंके अहमिन्द्र देव मनुष्यके दो भव ले कर मोक्ष जाते हैं। अर्थात् विजयादिकसे चय कर मनुष्य होते हैं। फिर संयम धारण करके पुनः विजय आदिमें जन्म लेते हैं। फिर वहांसे चय कर मनुष्य हो, मोक्ष प्राप्त करते हैं। इस तरह वे 'द्विचरम' कहे जाते हैं; क्योंकि मनुष्य भवसे ही मोक्ष मिलता है इसलिए मनुष्य भवको चरम देह कहते हैं। और जो दो वार चरम देहको धारण करते हैं वे 'द्विचरम' कहे जाते हैं।

विशेषार्थ—यहां इतना विशेष जानना कि अनुदिश तथा चार अनुत्तरोंके देव एक भव धारण करके भी मोक्ष जा सकते हैं। यहां अधिकसे अधिक दो भव बतलाये हैं इसीसे सर्वार्थसिद्धिका ग्रहण यहां नहीं किया; क्योंकि सर्वार्थसिद्धिके देव अत्यन्त उत्कृष्ट होते हैं। इसीसे उनके विमानका नाम सर्वार्थसिद्धि सार्थक है। वे एक ही भव धारण करके मोक्ष जाते हैं। त्रिलोकसारमें लिखा है कि सर्वार्थसिद्धिके देव, लौकान्तिक देव, सब दक्षिणेन्द्र, सौधर्म स्वर्गके लोकपाल, इन्द्राणी शचि, ये सब एक मनुष्य भव धारण करके मोक्ष जाते हैं ॥२६॥

तीन गतियोंके जीवोंका वर्णन करके तिर्यञ्चोंकी पहचान बतलाते हैं—

औपपादिक-मनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥२७॥

अर्थ—उपपाद जन्म वाले देव नारकी और मनुष्योंके सिवाय

बाकी जो संसारी जीव हैं वे सब तिर्यञ्च हैं। अतः एकेन्द्रिय जीव भी तिर्यञ्च ही हैं। वे समस्त लोकमें पाये जाते हैं। इसीसे तिर्यञ्चोंका कोई अलग लोक नहीं बतलाया है ॥२७॥

अब देवोंकी आयु बतलाते हुए प्रथम ही भवनवासी देवोंकी आयु बतलाते हैं–

स्थितिरसुरनाग-सुपर्ण-द्वीप-शेषाणां सागरोपम-त्रिपल्योपमार्द्धहीनमिता ॥२८॥

अर्थ–असुर कुमारोंकी आयु एक सागर है। नाग कुमारोंकी तीन पल्य है। सुपर्णकुमारोंकी आयु अढ़ाई पल्य है। द्वीप कुमारोंकी आयु दो पल्य है और बाकीके छहों कुमारोंकी आयु डेढ़-डेढ़ पल्य है। यह इनकी उत्कृष्ट आयु है ॥२८॥

अब सौधर्म और ऐशान स्वर्गके देवोंकी आयु बतलाते हैं–

सौधर्मैशानयोः सागरोपमेऽधिके ॥२९॥

अर्थ–सौधर्म और ऐशान स्वर्गके देवोंकी आयु दो सागरसे कुछ अधिक है।

विशेषार्थ–वैसे तो सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें दो सागरकी ही उत्कृष्ट आयु है किन्तु घातायुष्क सम्यग्दृष्टिके दो सागरसे करीब आधा सागर आयु अधिक होती है। आशय यह है कि जो मनुष्य अथवा तिर्यञ्च सम्यग्दृष्टि विशुद्ध परिणामोंसे ऊपरके स्वर्गोंकी आयुको बांध कर पीछे संक्लेश परिणामसे आयुका घात कर लेता है उसे घातायुष्क सम्यग्दृष्टि कहते हैं। जैसे किसी मनुष्यने दसवें स्वर्गकी आयु बांधी। पीछे उसके संक्लेश परिणाम हो गये। अतः वह बन्धी हुई आयुको घटा कर दूसरे स्वर्गमें उत्पन्न हुआ तो उसके दूसरे देवोंकी उत्कृष्ट आयु-दो सागर से-अन्तर्मुहूर्त

कम आधा सागर आयु अधिक होती है। ऐसे घातायुष्क जीव बारहवें स्वर्ग तक ही उत्पन्न होते है। अतः कुछ अधिक आयु भी वहीं तक बतलायी है आगे नहीं बतलायी ॥२९॥

क्रमशः आगेके स्वर्गोंमें आयु बतलाते हैं—

सानत्कुमार-माहेन्द्रयोः सप्त ॥३०॥

अर्थ—सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गमें देवोंकी उत्कृष्ट आयु सात सागरसे अधिक है ॥३०॥

त्रि-सप्त-नवैकादश-त्रयोदश-पञ्चदशभिरधिकानि तु ॥३१॥

अर्थ—सात सागरमें क्रमसे तीन, सात, नौ, ग्यारह, तेरह और पन्द्रह जोड़ देनेसे आगेके छह कल्प युगलोंमें देवोंका उत्कृष्ट आयु होती है। तथा यहां जो 'तु' शब्द दिया है वह यह बतलानेके लिए दिया है कि अधिक आयुकी अनुवृत्ति बारहवें स्वर्ग तक ही लेना चाहिये, आगे नहीं। अतः यह अर्थ हुआ कि ब्रह्म ब्रह्मोत्तरमें कुछ अधिक दश सागर उत्कृष्ट आयु है। लान्तव और कापिष्टमें कुछ अधिक चौदह सागर उत्कृष्ट आयु है। शुक्र महाशुक्रमें कुछ अधिक सोलह सागर उत्कृष्ट आयु है। शतार सहस्रारमें कुछ अधिक अट्ठारह सागर, आनत प्राणतमें बीस सागर और आरण अच्युतमें बाईस सागर उत्कृष्ट आयु है ॥३१॥

कल्पातीत देवोंकी आयु बतलाते हैं—

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥३२॥

अर्थ—आरण और अच्युत स्वर्गके ऊपर नौ ग्रैवेयकोंमें एक एक सागर आयु बढ़ती जाती है। अतः पहले ग्रैवेयकमें तेईस सागरकी और अन्तिम ग्रैवेयकमें इकतीस सागरकी आयु है। इससे एक सागर

अधिक यानी बत्तीस सागरकी आयु अनुदिश विमानोंमें है। उससे एक सागर अधिक यानी तेतीस सागरकी आयु विजयादि विमानोंमें है और सर्वार्थसिद्धिमें तेंतीस सागरकी ही आयु है उससे कम नहीं हैं ॥३२॥

अब वैमानिक देवोंकी उत्कृष्ट आयु कह कर जघन्य आयु कहते हैं—

अपरा पल्योपममधिकम् ॥३३॥

अर्थ—सौधर्म और ऐशान स्वर्गोंमें देवोंकी जघन्य आयु एक पल्यसे कुछ अधिक है ॥३३॥

परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा ॥३४॥

अर्थ—नीचे नीचेके स्वर्गोंमें जो उत्कृष्ट आयु है वही उसके ऊपरके स्वर्गोंमें जघन्य आयु है। अर्थात् सौधर्म ऐशानमें जो दो सागरसे अधिक आयु है वह सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गमें जघन्य आयु है। सानत्कुमार माहेन्द्रमें जो सात सागरसे अधिक उत्कृष्ट आयु है वही ब्रह्म-ब्रह्मोत्तरमें जघन्य है। इसी तरह ऊपरके समस्त कल्पोंमें और कल्पातीतोंमें जानना चाहिये ॥३४॥

नारकियोंकी उत्कृष्ट आयु तो कह चुके किन्तु जघन्य आयु नहीं कही। अतः नारकियोंका प्रकरण नहीं होने पर भी थोड़ेमें कहनेके अभिप्रायसे उनकी जघन्य आयु यहां कहते हैं—

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥३५॥

अर्थ—दूसरी आदि पृथिवियोंमें भी जो ऊपर ऊपर उत्कृष्ट आयु है वही उससे नीचेकी पृथिवियोंकी जघन्य आयु है। अर्थात् रत्नप्रभामें एक सागरकी उत्कृष्ट आयु है वही शर्कराप्रभामें जघन्य

आयु है। शर्कराप्रभामें जो तीन सागरकी उत्कृष्ट आयु है वही वालुकाप्रभामें जघन्य आयु है। इस तरह सातवें नरक तक जानना चाहिये ॥३५॥

पहली पृथिवीके नारकियोंकी जघन्य आयु कहते हैं—

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥३६॥

अर्थ—पहली पृथिवीके नारकियोंकी जघन्य आयु दस हजार वर्ष है ॥३६॥

भवनवासियोंकी जघन्य आयु कहते हैं—

भवनेषु च ॥३७॥

अर्थ—भवनवासी देवोंकी जघन्य स्थिति दस हजार वर्षकी है ॥३७॥

व्यन्तरोंकी भी जघन्य आयु कहते हैं—

व्यन्तराणां च ॥३८॥

अर्थ—व्यन्तर देवोंकी भी जघन्य आयु दस हजार वर्ष है ॥३८॥

व्यन्तरोंकी उत्कृष्ट आयु भी कहते हैं—

परा पल्योपममधिकम् ॥३९॥

अर्थ—व्यन्तरोंकी उत्कृष्ट आयु एक पल्यसे कुछ अधिक है ॥३९॥

ज्योतिषी देवोंकी उत्कृष्ट आयु कहते हैं—

ज्योतिष्काणां च ॥४०॥

अर्थ—ज्योतिष्क देवोंकी उत्कृष्ट आयु एक पल्यसे कुछ अधिक है ॥४०॥

ज्योतिषी देवोंकी जघन्य आयु भी कहते हैं-

तदष्टभागोऽपरा ॥४१॥

अर्थ-ज्योतिषी देवोंकी जघन्य आयु एक पल्यके आठवें भाग है ॥४१॥

अन्तमें लौकान्तिक देवोंकी आयु कहते हैं-

लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् ॥४२॥

अर्थ-सब लौकान्तिक देवोंकी आयु आठ सागर है। ये सब शुक्ललेश्या वाले होते हैं और इनके शरीरकी ऊंचाई पांच हाथ होती है ॥४२॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥



अथ पञ्चमोऽध्यायः

सम्यग्दर्शनके विषयभूत जीव आदि सात तत्त्वोंमेंसे जीव तत्त्वका कथन हो चुका। इस अध्यायमें अजीव तत्त्वका कथन है। अतः अजीवके भेद गिनाते हैं—

अजीवकाया धर्माधर्माकाश-पुद्गलाः ॥ १ ॥

अर्थ—धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये चार अजीव हैं और काय हैं।

विशेषार्थ—वैसे द्रव्य तो छह हैं। उनमें पाँच द्रव्य अजीव हैं। केवल एक द्रव्य जीव है। तथा छै द्रव्योंमें पांच द्रव्य अस्तिकाय हैं और एक काल द्रव्य अस्तिकाय नहीं है। अतः जीव द्रव्य कायरूप है किन्तु अजीव नहीं है और काल द्रव्य अजीव है किन्तु काय रूप नहीं है। इसलिए जीव और कालके सिवा शेष चार द्रव्य ही ऐसे हैं जो अजीव भी हैं और काय भी हैं। जिस द्रव्यमें चैतन्य नहीं पाया जाता उसे अजीव कहते हैं और जो बहु प्रदेशी होता है उसे काय कहते हैं। ऐसे द्रव्य चार ही हैं—धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल। गमन करते हुए जीव और पुद्गलोंको जो गमनमें सहायक होता है उसे धर्म द्रव्य कहते हैं। ठहरते हुए जीव और पुद्गलोंको जो ठहरानेमें सहायक होता है उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं। समस्त द्रव्योंको अवकाश देनेमें सहायक द्रव्यको आकाश कहते हैं। और जिसमें रूप, रस, गंध और स्पर्श गुण पाये जाते हैं उसे पुद्गल द्रव्य कहते हैं ॥ १ ॥

अब इनकी संज्ञा बतलाते हैं—

द्रव्याणि ॥ २ ॥

अर्थ—ये धर्म अधर्म आदि द्रव्य हैं। जो त्रिकालवर्ती अपनी पर्यायोंको प्राप्त करता है उसे द्रव्य कहते हैं। द्रव्यका लक्षण सूत्रकारने आगे स्वयं कहा है ॥ २ ॥

क्या जीव भी द्रव्य है?—

जीवाश्च ॥ ३ ॥

अर्थ—जीव भी द्रव्य है। यहाँ 'जीवाः' बहुवचन दिया है। अतः जीव द्रव्य बहुतसे हैं ऐसा समझना ॥ ३ ॥

अब इन द्रव्योंके बारेमें विशेष कथन करते हैं—

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥ ४ ॥

अर्थ—ये ऊपर कहे द्रव्य नित्य हैं, अवस्थित हैं और अरूपी हैं।

विशेषार्थ—प्रत्येक द्रव्यमें दो प्रकारके गुण पाये जाते हैं—विशेष और सामान्य। जैसे धर्म द्रव्यका विशेष गुण तो गतिमें सहायक होना है और सामान्य गुण अस्तित्व है। इसी तरह सब द्रव्योंमें सामान्य और विशेष गुण पाये जाते हैं। कभी भी द्रव्योंके इन गुणोंका नाश नहीं होता। जिस द्रव्यका जो स्वभाव है वह स्वभाव सदा रहता है। अतः सभी द्रव्य नित्य हैं। तथा इनकी संख्या भी निश्चित है। न तो ये छैसे बढ़ कर सात होते हैं और न कभी छैसे घट कर पांच होते हैं सदा छैके छै ही रहते हैं। इससे इन्हें अवस्थित कहा है। तथा इनमें रूप, रस, वगैरह नहीं पाया जाता। इसलिए ये अरूपी अर्थात् अमूर्तिक हैं ॥ ४ ॥

सब द्रव्योंको अरूपी कहनेसे पुद्गल भी अरूपी ठहरता। अतः उसके निषेधके लिए सूत्र कहते हैं—

रूपिणः पुद्गलाः ॥५॥

अर्थ—पुद्गल द्रव्य रूपी हैं।

विशेषार्थ—यहाँ रूपी कहनेसे रूपके साथ साथ रहने वाले स्पर्श, रस, गंधको भी लेना चाहिये; क्योंकि ये चारों गुण साथ ही रहते हैं। 'पुद्गलाः' शब्द बहुवचन है सो यह बतलाता है कि पुद्गल द्रव्य भी बहुत हैं॥ ५॥

आगे बतलाते हैं कि जैसे जीव द्रव्य बहुत हैं, पुद्गल द्रव्य भी बहुत हैं वैसे धर्मादि द्रव्य बहुत नहीं हैं—

आ आकाशादेकद्रव्याणि ॥ ६ ॥

अर्थ—धर्म, अधर्म और आकाश एक एक द्रव्य हैं।

विशेषार्थ—इन तीनों द्रव्योंको एक एक बतलानेसे यह स्पष्ट है कि बाकीके द्रव्य अनेक हैं। जैन सिद्धांतमें बतलाया है कि जीव द्रव्य अनन्तानन्त हैं क्योंकि प्रत्येक जीव एक स्वतंत्र द्रव्य है। जीवोंसे अनन्त गुने पुद्गल द्रव्य हैं, क्योंकि एक एक जीवके उपभोगमें अनन्त पुद्गल द्रव्य हैं। काल द्रव्य असंख्यात हैं; क्योंकि लोकाकाशके असंख्यात प्रदेश हैं और एक एक प्रदेशपर एक एक कालाणु स्थित रहता है। तथा धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य एक एक हैं॥ ६॥

आगे इन एक एक द्रव्योंके विषयमें और विशेष कहते हैं—

निष्क्रियाणि च ॥ ७ ॥

अर्थ—धर्म, अधर्म, और आकाश द्रव्य क्रिया रहित हैं। इनमें

हलन चलन रूप क्रिया नहीं होती। अतः ये तीनों द्रव्य निष्क्रिय हैं।

[शङ्का–जैन सिद्धान्तमें माना है कि प्रत्येक द्रव्यमें प्रति समय उत्पाद, व्यय हुआ करता है। किंतु यदि धर्म आदि निष्क्रिय हैं तो उनमें उत्पाद नहीं हो सकता, क्योंकि कुम्हार मिट्टीको चाक पर रख कर जब घुमाता है तभी घड़ेकी उत्पत्ति होती है। अतः विना क्रियाके उत्पाद नहीं हो सकता। और जब उत्पाद नहीं होगा तो व्यय (विनाश) भी नहीं होगा।

समाधान–धर्म आदि निष्क्रिय द्रव्योंमें क्रिया पूर्वक उत्पाद नहीं होता किन्तु दूसरे प्रकारसे उत्पाद होता है। उत्पाद दो प्रकारका माना है—एक स्व-निमित्तक दूसरा पर-निमित्तक। जैन आगममें अगुरुलघु नामके अनन्त गुण माने गये हैं जो प्रत्येक द्रव्यमें रहते हैं। उन गुणोंमें छै प्रकारकी हानि या वृद्धि सदा होती रहती है। उसके निमित्तसे द्रव्योंमें स्वभावसे ही सदा उत्पाद-व्यय हुआ करता है। यह स्व-निमित्तक उत्पाद-व्यय है। तथा धर्मादि द्रव्य प्रति समय अश्व आदि अनेक जीवों और पुद्गलोंके गमनमें, ठहरनेमें और अवकाशदानमें निमित्त होते हैं, प्रति क्षण गति वगैरहमें परिवर्तन होता रहता है अतः उनके निमित्तसे धर्मादि द्रव्योंमें भी परिवर्तन होना स्वाभाविक है। यह परनिमित्तक उत्पाद व्यय है।

शङ्का–यदि धर्मादि द्रव्य स्वयं नहीं चलते तो वे दूसरोंको चलाते कैसे हैं ? देखा जाता है कि जल वगैरह जब स्वयं बहते हैं तभी मछलियों वगैरहको चलनेमें सहायक होते हैं।

समाधान–यह आपत्ति उचित नहीं है। जैसे चक्षु रूपके देखनेमें सहायक है किंतु यदि मनुष्यका मन दूसरी ओर लगा हो तो चक्षु रूपको देखनेका आग्रह नहीं करती। इसी तरह धर्मादि द्रव्य भी चलनेमें उदासीन निमित्त हैं, प्रेरक नहीं हैं]॥ ७॥

'अजीव काया:' सूत्रमें 'काय' पद देनेसे यह तो ज्ञात होगया कि उक्त द्रव्य बहु प्रदेशी हैं। किंतु किसके कितने प्रदेश हैं यह ज्ञात नहीं हुआ। उसके बतलानेके लिए सूत्र कहते हैं—

असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ॥ ८ ॥

अर्थ–धर्मद्रव्य, अधर्म द्रव्य और एक जीव द्रव्य, इनमेंसे प्रत्येकके असंख्यात, असंख्यात प्रदेश होते हैं।

विशेषार्थ–जितने आकाशको पुद्गलका एक परमाणु रोकता है उतने क्षेत्रको प्रदेश कहते हैं। धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य तो निष्क्रिय हैं और समस्त लोकाकाशमें व्याप्त हैं। अतः लोकाकाशके असंख्यात प्रदेशोंमें व्याप्त होनेसे वे दोनों असंख्यात,असंख्यात प्रदेशी हैं। जीव भी उतने ही प्रदेशी है किंतु उसका स्वभाव सकुचने और फैलनेका है। अतः नाम कर्मके द्वारा उसे जैसा छोटा या बड़ा शरीर मिलता है उतनेमें ही फैलकर रह जाता है। किंतु जब केवल ज्ञानी होकर वह लोकपूरण समुद्घात करता है तब वह भी धर्म अधर्म द्रव्यकी तरह समस्त लोकाकाशमें व्याप्त हो जाता है। अतः वह भी असंख्यात प्रदेशी ही है ॥ ८ ॥

आगे आकाशके प्रदेश बतलाते हैं—

आकाशस्यानन्ताः ॥ ९ ॥

अर्थ–आकाश द्रव्यके अनन्त प्रदेश हैं। अर्थात् यद्यपि आकाश एक अखण्ड द्रव्य है किंतु यदि उसे परमाणुके द्वारा मापा जावे तो वह अनन्त परमाणुओंके फैलावके बराबर होता है। इससे उसे अनंत प्रदेशी कहा है ॥ ९ ॥

पुद्गलोंके भी प्रदेश बतलाते हैं—

संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥ १० ॥

अर्थ—यहाँ 'च' शब्दसे अनंत लेना चाहिए। अतः किसी पुद्गल द्रव्यके संख्यात प्रदेश हैं, किसीके असंख्यात हैं और किसीके अनंत हैं। आशय यह है कि शुद्ध पुद्गल द्रव्य तो एक अविभागी परमाणु है। किंतु परमाणुओंमें बँधने और विछुणनेकी शक्ति है। अतः परमाणुके मेलसे स्कन्ध बनता है। सो कोई स्कन्ध तो दो परमाणुओंके मेलसे बनता है, कोई तीनके, कोई चारके, कोई संख्यातके, कोई असंख्यातके और कोई अनंत परमाणुओंके मेलसे बनता है। अतः कोई संख्यात प्रदेशी होता है, कोई असंख्यात प्रदेशी होता है और कोई अनंत प्रदेशी होता है।

शङ्का—लोक तो असंख्यात प्रदेशी है उसमें अनंत प्रदेशी पुद्गल द्रव्य कैसे रह सकता है?

समाधान—एक ओर तो पुद्गलोंमें सूक्ष्मरूप परिणमन करनेकी शक्ति है, दूसरी ओर आकाशमें अवगाहन शक्ति है। अतः सूक्ष्म रूप पुद्गल एक एक आकाशके प्रदेशमें बहुतसे रह सकते हैं। फिर ऐसा कोई नियम नहीं है कि छोटे से आधारमें बड़ा द्रव्य नहीं रह सकता। देखो, चम्पाके फूलकी कली छोटी सी होती है। जब वह खिलती है तो उसकी गन्ध सब ओर फैल जाती है अतः लोकाकाशके असंख्यात प्रदेशोंमें अनन्तानन्त पुद्गल द्रव्य रह सकते हैं]॥ १० ॥

परमाणुके प्रदेशोंके विषय कहते हैं—

नाणोः ॥ ११ ॥

अर्थ—परमाणुके प्रदेश नहीं होते; क्योंकि परमाणु एक प्रदेशी ही है। जैसे आकाशके एक प्रदेशके और विभाग न हो सकनेसे वह अप्रदेशी है वैसे ही परमाणु भी एक प्रदेशी ही है अतः उसके दो तीन आदि प्रदेश नहीं होते। तथा पुद्गलके सबसे छोटे अंशको

जिसका दूसरा विभाग नहीं हो सकता, परमाणु कहते हैं। अतः परमाणुसे छोटा यदि कोई द्रव्य होता तो उसके प्रदेश हो सकते थे किंतु उससे छोटा कोई द्रव्य है नहीं। इससे परमाणु एक प्रदेशी ही है।

धर्मादिक द्रव्य कहां रहते हैं, सो बतलाते हैं—

लोकाकाशेऽवगाहः ॥ १२ ॥

अर्थ—धर्म आदि द्रव्य लोकाकाशमें रहते हैं। आशय यह है कि आकाश तो सर्वत्र है। उसके बीचके जितने भागमें धर्म आदि छहों द्रव्य पाये जाते हैं उतने भागको लोकाकाश कहते हैं। और उसके बाहर सब ओर जो आकाश है उसे अलोकाकाश कहते हैं। धर्मादि द्रव्य लोकाकाशमें ही पाये जाते हैं, बाहर नहीं।

[शङ्का—यदि धर्मादि द्रव्योंका आधार लोकाकाश है तो आकाशका आधार क्या है?

समाधान—आकाशका आधार अन्य कोई नहीं है वह अपने ही आधार है।

शङ्का—यदि आकाश अपने आधार है तो धर्मादि द्रव्योंको भी अपने ही आधार होना चाहिये। और यदि धर्मादि द्रव्योंका आधार कोई अन्य द्रव्य है तो आकाशका भी दूसरा आधार होना चाहिये?

समाधान—आकाशसे बड़ा कोई द्रव्य नहीं है जिसके आधार आकाश रह सके। आकाश तो सब ओर अनंत है—उसका कहीं अन्त ही नहीं है। तथा निश्चय नयसे सभी द्रव्य अपने आधार हैं—कोई द्रव्य किसी दूसरे द्रव्यके आधार नहीं है। किन्तु व्यवहार नयसे धर्मादि द्रव्योंका आधार आकाशको कहा जाता है, क्योंकि धर्मादि द्रव्य लोकाकाशसे बाहर नहीं पाये जाते।

शङ्का–लोकमें जो पूर्वोत्तरकाल-भावी होते हैं उन्हींमें आधार-आधेयपना देखा जाता है। जैसे मकान पहले बन जाता है तो पीछे उसमें मनुष्य आकर बसते हैं। किंतु इस तरह 'आकाश पहलेसे है और धर्मादि द्रव्य उसमें बादको आये हैं' ऐसी बात तो आप मानते नहीं। ऐसी स्थितिमें व्यवहार नयसे भी आधार-आधेयपना नहीं बन सकता ?

समाधान–आपकी आपत्ति ठीक नहीं है। जो एक साथ होते हैं उनमें भी आधार आधेयपना देखा जाता है। जैसे शरीर और हाथ एक साथ ही बनते हैं फिर भी 'शरीरमें हाथ है' ऐसा कहा जाता है। इसी तरह यद्यपि सभी द्रव्य अनादि हैं फिर भी 'आकाशमें धर्मादि द्रव्य हैं' ऐसा व्यवहार होनेमें कोई दोष नहीं है]॥ १२॥

कौन द्रव्य कितने लोकाकाशमें रहताहै ? यह बतलाते हैं—

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥१३॥

अर्थ–धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य समस्त लोकाकाशमें व्याप्त हैं। अर्थात् जैसे मकानके एक कोनेमें घड़ा रखा रहता है उस तरहसे धर्म अधर्म द्रव्य लोकाकाशमें नहीं रहते। किंतु जैसे तिलोंमें सर्वत्र तेल पाया जाता है वैसे ही दोनों द्रव्य समस्त लोकाकाशमें पाये जाते हैं॥ १३॥

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥१४॥

अर्थ–पुद्गलोंका अवगाह लोकाकाशके एक प्रदेशसे लगाकर असंख्यात प्रदेशोंमें है। अर्थात् एक परमाणु आकाशके एक प्रदेशमें रहता है। दो परमाणु यदि जुदे जुदे होते हैं तो दो प्रदेशोंमें रहते हैं और यदि परस्परमें बँधे हों तो एक प्रदेशमें रहते हैं। इसी तरह

संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशी स्कन्ध लोकाकाशके एक प्रदेशमें, अथवा संख्यात या असंख्यात प्रदेशोंमें रहते हैं। जैसा स्कन्ध होता है उसीके अनुसार स्थानमें वह रहता है।

[शंका-धर्म अधर्म द्रव्य तो अमूर्तिक है, अतः वे एक जगह विना किसी बाधाके रह सकते हैं। किंतु पुद्गल द्रव्य तो मूर्तिक है अतः एक प्रदेशमें अनेक मूर्तिक पुद्गल कैसे रह सकते हैं?

समाधान-जैसे प्रकाश मूर्तिक है फिर भी एक घरमें अनेक दीपकोंका प्रकाश रह जाता है वैसे ही सूक्ष्म परिणमन होनेसे लोकाकाशके एक प्रदेशमें बहुतसे पुद्गल परमाणु रह सकते हैं] ॥१४॥

एक जीव कितनी जगह रोकता है यह बतलाते हैं-

असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥१५॥

अर्थ-लोकके असंख्यातवें भाग आदिमें जीवोंका अवगाह है। अर्थात् लोकाकाशके असंख्यात भाग करनेपर जो एक असंख्यातवां भाग होता है कमसे कम उस एक असंख्यातवें भागमें एक जीव रहता है, क्योंकि सबसे जघन्य अवगाहना सूक्ष्म निगोदिया जीवकी होती है। सो वह जीव लोकके असंख्यातवें भाग स्थानको रोकता है। यदि जीवकी अवगाहना बड़ी होती है तो वह लोकके दो, तीन चार आदि असंख्यातवें भागोंमें रहता है यहाँ तक कि सर्वलोक तकमें व्याप्त हो जाता है।

[शंका-यदि लोकके एक असंख्यातवें भागमें एक जीव रहता है तो अनन्तानन्त जीवराशि लोकाकाशमें कैसे रह सकती है?

समाधान-जीव दो प्रकारके होते हैं-सूक्ष्म और बादर। जिनका शरीर स्थूल होता है उन्हें बादर कहते हैं। बादर जीव एक जगह बहुतसे नहीं रह सकते। किन्तु सूक्ष्म शरीरवाले जीव सूक्ष्म होनेसे जितनी जगहमें एक निगोदिया जीव रहता है उतनी

जगहमें साधारण कायके रूपमें अनन्तानन्त रह सकते हैं; क्योंकि वे न तो किसीसे रुकते हैं और न किसीको रोकते हैं अतः कोई विरोध नहीं होता] ॥ १५ ॥

शङ्का—एक जीवको लोकाकाशके बराबर प्रदेशवाला बतलाया है। ऐसा जीव लोकाकाशके असंख्यातवें भागमें कैसे रह सकता है ? उसे तो समस्त लोकमें व्याप्त होकर ही रहना चाहिये ?

सूत्रकार इस शङ्काके समाधानके लिए सूत्र कहते हैं—

प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥ १६ ॥

अर्थ—यद्यपि जीवके प्रदेश लोकाकाशके बराबर हैं फिर भी दीपककी तरह प्रदेशोंका संकोच विस्तार होनेसे जीव लोकके असंख्यातवें भाग आदिमें रहता है।

विशेषार्थ—यद्यपि आत्मा स्वभावसे अमूर्तिक है फिर भी अनादि कालसे कर्मोंके साथ एकमेक होनेके कारण कथंचित् मूर्तिक हो रहा है। अतः कर्मके वशसे छोटा या बड़ा जैसा शरीर मिलता है, उसके अनुसार ही उसके प्रदेशोंका संकोच या फैलाव हो जाता है और वह उस शरीरमें व्याप्त होकर रह जाता है। जैसे दीपकको छोटे या बड़े जैसे स्थानमें रखा जाता है उसी रूपमें उसका प्रकाश या तो फैल जाता है अथवा संकुचित हो जाता है। वैसे ही आत्माके विषयमें भी जानना चाहिये। किन्तु प्रदेशोंका संकोच विस्तार होनेपर भी प्रदेशोंका परिमाण नहीं घटता बढ़ता। हर हालतमें प्रदेश लोकाकाशके बराबर ही रहते हैं।

शंका—यदि आत्माके प्रदेशोंमें संकोच विस्तार होता है तो वे सकुचते सकुचते इतने छोटे क्यों नहीं हो जाते कि आकाशके एक प्रदेशमें एक जीव रह सके ?

समाधान—आत्माके प्रदेशोंका संकोच या विस्तार शरीरके अनुसार होता है। और सबसे छोटा शरीर सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके होता है जिसकी अवगाहना अंगुलके असंख्यातवें भाग है। अतः जीवकी अवगाहना इससे कम नहीं होती, कमसे कम इतनी ही रहती है। इससे वह लोकके असंख्यातवें भाग प्रमाण है ॥१६॥

अब प्रत्येक द्रव्यका कार्य बतलाते हैं—

गति-स्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ॥१७॥

अर्थ—जीव और पुद्गलकी गति रूप उपकार धर्म द्रव्य करता है और स्थिति रूप उपकार अधर्म द्रव्य करता है।

विशेषार्थ—जीव और पुद्गल द्रव्य एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जाते आते हैं। यह गमन करनेकी शक्ति तो जीव और पुद्गलोंमें ही है। अतः गमन करनेमें अन्तरंग कारण तो वे स्वयं ही हैं। किन्तु बाह्य सहायकके बिना कोई कार्य नहीं होता। अतः बाह्य सहायक धर्म द्रव्य है। किन्तु यदि कोई जीव या पुद्गल गमन नहीं करता हो तो उसे धर्मद्रव्य चलनेकी प्रेरणा नहीं करता। जैसे मछलीमें गमन करनेकी शक्ति तो स्वयं ही है, परन्तु बाह्य सहायक जल है। किन्तु यदि मछली न चले तो जल उसे जबरन नहीं चलाता है। फिर भी जलके बिना मछली गमन नहीं कर सकती। अतः उसके गमन करनेमें जल सहायक है। ऐसे ही अधर्म द्रव्य ठहरते हुए जीव पुद्गलोंको ठहरनेमें सहकारी कारण है। जैसे ग्रीष्म ऋतुमें गमन करते हुए पथिकोंको ठहरनेमें वृक्षकी छाया सहायक है। परन्तु वह जबरन किसीको नहीं ठहराती है।

शंका—भूमि, जल वगैरह ही गति स्थितिमें सहायक देखे

जाते हैं फिर धर्म और अधर्म द्रव्यको माननेकी क्या आवश्यकता है ?

समाधान—भूमि, जल वगैरह तो किसी किसीके ही चलने या ठहरनेमें सहायक हैं। किन्तु धर्म और अधर्म द्रव्य तो सभी जीव और पुद्गलोंकी गति और स्थितिमें साधारण सहायक हैं। फिर एक कार्यकी उत्पत्तिमें अनेक कारण भी आवश्यक होते हैं। अतः ऊपरकी शंका ठीक नहीं है ॥१७॥

क्रमशः आकाशद्रव्यका उपकार बतलाते हैं—

आकाशस्यावगाहः ॥१८॥

अर्थ—सब द्रव्योंको अवकाश देना आकाश द्रव्यका उपकार है।

[**शंका**—क्रियावान् जीव और पुद्गल द्रव्यको अवकाश देना तो ठीक है किन्तु धर्मादि द्रव्य तो कहीं आते जाते नहीं हैं, अनादि कालसे जहाँके तहाँ स्थित हैं। उनको अवकाश देनेकी बात उचित प्रतीत नहीं होती ?

समाधान—जैसे आकाश चलता नहीं है फिर भी उसे सर्वगत (जो सब जगह जाता है) कहते हैं; क्योंकि वह सर्वत्र पाया जाता है। ऐसे ही धर्म और अधर्म द्रव्यमें अवगाह रूप क्रिया यद्यपि नहीं है फिर भी वे समस्त लोकाकाशमें व्याप्त हैं इसलिए उपचारसे उन्हें अवगाही कह दिया है। यद्यपि जीव और पुद्गलोंको ही आकाश मुख्य रूपसे अवकाश दान देता है।

शंका—यदि अवकाश (स्थान) देना आकाशका स्वभाव है तो एक मूर्तिक द्रव्यका दूसरे मूर्तिक द्रव्यसे प्रतिघात नहीं होना चाहिये; क्योंकि आकाश सर्वत्र है। किन्तु देखा जाता है कि मनुष्य दीवारसे टकरा कर रुक जाता है ?

समाधान—यह दोष ठीक नहीं है क्योंकि मनुष्य जब दीवारसे टकराता है तो वहाँ पुद्गलकी पुद्गलसे टक्कर होती है, किन्तु इसमें आकाशका क्या दोष है? जैसे यदि रेलगाड़ी भरी हो और उसमें बैठे हुए यात्री अन्य यात्रियोंको न चढ़ने दें तो इसमें रेलगाड़ीका क्या दोष है वह तो बराबर स्थान दिये हुए है।

शंका—अलोकाकाशमें कोई दूसरा द्रव्य नहीं रहता अतः वहाँके आकाशमें अवकाश दान देनेका स्वभाव नहीं है?

समाधान—यदि वहाँ कोई द्रव्य नहीं रहता तो इससे आकाश अपने स्वभावको नहीं छोड़ देता। जैसे किसी खाली मकानमें यदि कोई नहीं रहता तो इसका यह मतलब नहीं है कि उस मकानमें किसीको स्थान देनेकी शक्ति ही नहीं है। कोई भी द्रव्य अपने स्वभावको छोड़ कर नहीं रह सकता]॥ १८॥

आगे पुद्गल द्रव्यका उपकार बतलाते हैं—

शरीर-वाङ्-मनः-प्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥१९॥

अर्थ—शरीर, वचन, मन और श्वास उच्छ्वास ये सब पुद्गलोंका उपकार है।

विशेषार्थ—हमारा शरीर तो पुद्गलोंका बना है यह सब प्रत्यक्ष ही है। कार्मण शरीर यानी जो कर्मपिण्ड आत्मासे बंधा हुआ है वह भी पौद्गलिक ही है; क्योंकि मूर्तिक पदार्थोंके निमित्तसे ही कर्म अपना फल देते हैं। जैसे पैरमें कांटा चुभनेसे असाता कर्मका उदय होता है और मीठे स्वादिष्ट पदार्थोंके खाने मिलनेसे साता कर्मका उदय होता है। अतः मूर्तिकके निमित्तसे फलोदय होनेके कारण कार्मण शरीर मूर्तिक ही है। वचन दो प्रकारका है—भाव वचन और द्रव्य वचन। वीर्यान्तराय कर्म और मति-श्रुत ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे तथा अंगोपांग

नाम कर्मके उदयसे आत्मामें जो बोलनेकी शक्ति होती है उसे भाव वचन कहते हैं। पुद्गलके निमित्तसे होनेके कारण यह भी पौद्गलिक है। तथा बोलनेकी शक्तिसे युक्त जीवके कण्ठ तालु वगैरहके संयोगसे जो पुद्गल शब्द रूप बनते हैं वह द्रव्य वचन है। वह भी पौद्गलिक ही है; क्योंकि कानोंसे सुनायी देता है। दूसरे मत वाले शब्दको अमूर्तिक मानते हैं किन्तु यह ठीक नहीं है; क्योंकि शब्द मूर्तिमान् श्रोत्रेन्द्रियसे जाना जाता है, मूर्तिमान् वायुके द्वारा एक दिशासे दूसरी दिशामें ले जाया जाता है, शब्दकी टक्करसे प्रतिध्वनि होती है, शब्द मूर्तिकके द्वारा रुक जाता है। अतः शब्द मूर्तिक ही है। मन भी दो प्रकारका है—भाव मन और द्रव्य मन। गुण दोषके विचारकी शक्तिको भाव मन कहते हैं। वह शक्ति पुद्गलकर्मोंके क्षयोपशमसे प्राप्त होती है अतः वह भी पौद्गलिक है। तथा ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे और अंगोपांग नाम कर्मके उदयसे हृदयस्थानमें जो पुद्गल मन रूपसे परिणमन करते हैं, उन्हें द्रव्य मन कहते हैं। यह द्रव्य मन तो पुद्गलोंसे ही बनता है इसलिए यह भी पौद्गलिक है। अन्दरकी वायुको बाहर निकालना उच्छ्वास या प्राण है। और बाहरकी वायुको अन्दर ले जाना निश्वास या अपान है। ये दोनों भी पौद्गलिक हैं क्योंकि हथेलीके द्वारा नाक और मुँहको बन्द कर लेनेसे श्वास रुक जाता है। तथा ये आत्माके उपकारी हैं; क्योंकि श्वास-निश्वासके बिना सशरीरी आत्मा जीवित नहीं रह सकता। इन्हींसे आत्माका अस्तित्व मालूम होता है; क्योंकि जैसे किसी मशीनको कार्य करती हुई देख कर यह मालूम होता है कि इसका कोई संचालक है उसी तरह श्वास-निश्वासकी क्रियासे आत्माका अस्तित्व प्रतीत होता है ॥१६॥

पुद्गल द्रव्यका और भी उपकार बतलाते हैं—

सुख-दुःख-जीवित-मरणोपग्रहाश्च ॥२०॥

अर्थ—सुख, दुःख, जीवन, मरण भी पुद्गलकृत उपकार हैं।

विशेषार्थ—साता वेदनीयके उदयसे और बाह्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भवके निमित्तसे आत्माको जो प्रसन्नता होती है वह सुख है। और असाता वेदनीयके उदयसे जो संक्लेश रूप भाव होता है वह दुःख है। आयु कर्मके उदयसे एक भवमें स्थित जीवके श्वासोच्छ्वासका जारी रहना जीवन है और उसका उच्छेद हो जाना मरण है। ये भी पुद्गलके निमित्तसे ही होते हैं अतः पौद्गलिक हैं। यहाँ उपकारका प्रकरण होने पर भी सूत्रमें जो 'उपग्रह' पद दिया है वह यह बतलानेके लिए दिया है कि पुद्गल जीवका ही उपकार नहीं करता, किन्तु पुद्गल पुद्गलका भी उपकार करता है। जैसे राखसे कांसेके बर्तन साफ किये जाते हैं या निर्मली डालनेसे मैला पानी साफ हो जाता है। तथा यहां उपकारका मतलब केवल भलाई नहीं लेना चाहिये, बल्कि किसी भी कार्यमें सहायक होना उपकार है ॥२०॥

आगे जीवकृत उपकार बतलाते हैं—

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥२१॥

अर्थ—आपसमें एक दूसरेकी सहायता करना जीवोंका उपकार है। जैसे, स्वामी धन वगैरहके द्वारा अपने सेवकका उपकार करता है और सेवक हितकी बात कह कर और अहितसे बचा कर स्वामीका उपकार करता है। इसी तरह गुरु उचित उपदेश देकर शिष्यका उपकार करता है और शिष्य गुरुकी आज्ञाके अनुकूल आचरण करके गुरुका उपकार करता है। उपकारका प्रकरण होते हुए भी इस सूत्रमें जो उपग्रह पद दिया है वह यह बतलानेके लिए दिया है कि पहले सूत्रमें बतलाये गये सुख दुःख वगैरह भी

जीवकृत उपकार हैं। अर्थात् एक जीव दूसरे जीवको सुख दुःख भी देता है और जीवन मरणमें भी सहायक होता है ॥२१॥

अन्तमें कालका उपकार बतलाते हैं–

वर्त्तना-परिणाम-क्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य ॥२२॥

अर्थ–वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये काल द्रव्यके उपकार हैं।

विशेषार्थ–प्रति समय छहों द्रव्योंमें जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य होता रहता है इसीका नाम वर्तना है। यद्यपि सभी द्रव्य अपनी अपनी पर्याय रूपसे प्रति समय स्वयं ही परिणमन करते हैं किन्तु विना बाह्य निमित्तके कोई कार्य नहीं होता। और उसमें बाह्य निमित्त काल है। अतः वर्तनाको कालका उपकार कहा जाता है। अपने स्वभावको न छोड़ कर द्रव्योंकी पर्यायोंके बदलनेको परिणाम कहते हैं। जैसे जीवके परिणाम क्रोधादि हैं और पुद्गलके परिणाम रूप रसादि हैं। एक स्थानसे दूसरे स्थानमें गमन करनेका नाम क्रिया है। यह क्रिया जीव और पुद्गलोंमें ही पायी जाती है। जो बहुत दिनोंका होता है उसे पर कहते हैं और जो थोड़े दिनोंका होता है उसे अपर कहते हैं। ये सब कालकृत उपकार हैं। यद्यपि परिणाम वगैरह वर्तनाके ही भेद हैं किन्तु कालके दो भेद बतलानेके लिए उन सबका ग्रहण किया है। काल द्रव्य दो प्रकारका है–निश्चयकाल और और व्यवहार काल। निश्चयकालका लक्षण वर्तना है और व्यवहार कालका लक्षण परिणाम वगैरह है। जीव पुद्गलोंमें होने वाले परिणमनमें ही व्यवहार काल घड़ी, घण्टा वगैरह जाने जाते हैं- उसके तीन भेद हैं भूत, वर्तमान और भविष्य। इस घड़ी, मुहूर्त, दिन, रात, वगैरहमें होनेवाले कालके व्यवहारसे मुख्य निश्चयकालका अस्तित्व जाना जाता है; क्योंकि मुख्यके

होनेसे ही गौण व्यवहार होता है। अतः लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशपर जो एक एक कालाणु स्थित है वही निश्चय काल है। उसीके निमित्तसे वर्तना वगैरह उपकार होते हैं ॥२२॥

अब पुद्गलोंका लक्षण बतलाते हैं—

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवन्तः पुद्गलाः ॥ २३ ॥

अर्थ—जिनमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण पाये जाते हैं उन्हें पुद्गल कहते हैं। समस्त पुद्गलोंमें ये चारों गुण अवश्य पाये जाते हैं।

विशेषार्थ—स्पर्श गुण आठ प्रकारका है—स्निग्ध-रूक्ष, शीत-उष्ण, कोमल-कठोर, और हल्का भारी। रस पाँच प्रकारका होता है—खट्टा, मीठा, कडुआ, कसैला, और चिरपरा। गन्ध दो प्रकारका है—सुगन्ध और दुर्गन्ध। वर्ण पाँच प्रकारका है—काला, नीला, लाल, पीला और सफेद। इस तरह बीस भेद हैं। इन भेदोंके भी अवान्तर भेद बहुत हैं। ये सब गुण पुद्गलोंमें पाये जाते हैं ॥२३॥

आगे पुद्गल द्रव्यकी पर्याय बतलाते हैं—

शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थान-भेद-तमश्छाया-तपोद्योतवन्तश्च ॥ २४ ॥

अर्थ—शब्द, बन्ध, सूक्ष्मपना, स्थूलपना, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत ये सब पुद्गलकी ही पर्याय हैं।

विशेषार्थ—शब्द दो प्रकारका है—भाषा रूप और अभाषा रूप। भाषा रूप शब्द भी दो प्रकारका है—अक्षर रूप और अनक्षर रूप। मनुष्योंके व्यवहारमें आने वाली अनेक बोलियां अक्षर रूप भाषात्मक शब्द हैं। और पशु-पक्षियोंकी [illegible] अनक्षर रूप भाषात्मक शब्द हैं। अभाषा रूप शब्द दो प्रकारका है—एक जो पुरुषके प्रयत्नसे पैदा होता है उसे प्रायोगिक कहते हैं।

और जो विना पुरुषके प्रयत्नके मेघ आदिकी गर्जनासे होता है उसे स्वाभाविक कहते हैं। प्रायोगिकके भी चार भेद हैं–चमड़ेको मढ़कर ढोल नगारे वगैरहका जो शब्द होता है वह तत है। सितार वगैरहके शब्दको वितत कहते हैं। घण्टा वगैरहके शब्दको घन कहते हैं। बांसुरी शंख वगैरहके शब्दको सुपिर कहते हैं। ये सब शब्दके भेद हैं। बन्ध भी दो प्रकारका है–वैस्रसिक और प्रायोगिक। जो बन्ध विना पुरुषके प्रयत्नके स्वयं होता है उसे वैस्रसिक कहते हैं। जैसे पुद्गलोंके स्निग्ध और रूक्ष गुणके निमित्तसे स्वयं ही बादल बिजली और इन्द्रधनुष वगैरह बन जाते हैं। पुरुषके प्रयत्नसे होने वाला बन्ध प्रायोगिक है। उसके भी दो भेद हैं–एक अजीव अजीवका बन्ध, जैसे लकड़ी और लाखका बन्ध। दूसरा जीव और अजीवका बन्ध, जैसे आत्मासे कर्म और नोकर्मका बन्ध। सूक्ष्मपना दो प्रकारका है–एक सबसे सूक्ष्म, जैसे परमाणु। दूसरा आपेक्षिक सूक्ष्म, जैसे बेलसे सूक्ष्म आंवला और आंवलेसे सूक्ष्म बेर। स्थूलपना भी दो प्रकारका है–एक सबसे अधिक स्थूल–जैसे समस्त जगतमें व्याप्त महा स्कन्ध। दूसरा आपेक्षिक स्थूल–जैसे बेरसे स्थूल आंवला और आंवलासे स्थूल बेल। संस्थान यानी आकार भी दो तरहका है–गोल, चौकोर, लम्बा, चौड़ा आदि आकारोंको 'इत्थं लक्षण' कहते हैं–क्योंकि उन्हे कहा जा सकता है। और जिस आकारको कह सकना शक्य न हो, जैसे बादलोंमें अनेक प्रकारके आकार बनते बिगड़ते रहते हैं, उन्हें 'अनित्थं लक्षण' कहते हैं। भेद छै प्रकारका है–आरासे लकड़ीको चीरनेपर जो बुरादा निकलता है उसका नाम उत्कर है। जौ गेहूँके आटेको चूर्ण कहते हैं। घड़ेके ठिकरोंको खण्ड कहते हैं। उड़द मूंग वगैरहकी दालके छिलकोंको चूर्णिका कहते हैं। मेघ वगैरहके पटलका नाम प्रतर है। लोहेको गर्म करके पीटनेपर जो फुलिंगे निकलते हैं उन्हें अणु-चटन कहते हैं। ये सब भेद यानी टुकड़ोंके प्रकार हैं। तम

अन्धकारका नाम है। छाया दो प्रकारकी होती है-एक तो जिस वस्तुकी छाया हो उसका रूप रंग ज्योंका त्यों उसमें आ जाये, जैसे दर्पणमें मुखका रूप रंग वगैरह ज्योंका त्यों आजाता है। दूसरे प्रतिबिम्ब मात्र, जैसे धूपमें खड़े होनेसे छाया मात्र पड़ जाती है। सूर्यके प्रकाशको आतप या घाम कहते हैं। चन्द्रमा वगैरहके शीतल प्रकाशको उद्योत कहते हैं। ये सब पुद्गलकी ही पर्यायें हैं ॥ २४ ॥

आगे पुद्गलके भेद कहते हैं—

अणवः स्कन्धाश्च ॥ २५ ॥

अर्थ—पुद्गलके दो भेद हैं—अणु और स्कन्ध। जिसका दूसरा भाग नहीं हो सकता, उस अविभागी एकप्रदेशी पुद्गल द्रव्यको अणु या परमाणु कहते हैं। और जो स्थूल हो, जिसे उठा सकें, रख सकें, वह स्कन्ध है। यद्यपि ऐसे भी स्कन्ध हैं जो दिखायी नहीं देते। फिर भी वे स्कन्ध ही कहलाते हैं; क्योंकि दो या दोसे अधिक परमाणुओंके मेलसे जो पुद्गल बनता है वह स्कन्ध कहा जाता है।

विशेषार्थ—पुद्गल बहुत तरहके होते हैं किन्तु वे सब दो जातिके होते हैं। अतः अणु और स्कन्धमें उन सबोंका अन्तर्भाव हो जाता है। ऊपर कहे हुए बीस गुणोंमें से एक परमाणुमें कोई एक रस, एक गन्ध, एक वर्ण और शीत-उष्णमें से एक तथा स्निग्ध-रूक्षमेंसे एक इस तरह दो स्पर्श रहते हैं। ऊपर जो शब्द आदि गिनाये हैं वे सब स्कन्ध हैं। स्कन्धोंमें अनेक रस, अनेक गन्ध वगैरह पाये जाते हैं ॥ २५ ॥

अब स्कन्धोंकी उत्पत्ति कैसे होती है यह बतलाते हैं—

भेदसंघातेभ्यः उत्पद्यन्ते ॥ २६ ॥

अर्थ-भेद, संघात और भेद संघातसे स्कन्धोंकी उत्पत्ति होती है। स्कन्धोंके टूटनेको भेद कहते हैं। भिन्न भिन्न परमाणुओं या स्कन्धोंके मिलकर एक हो जानेको संघात कहते हैं। जैसे दो परमाणुओंके मिलनेसे द्विप्रदेशी स्कन्ध बनता है। इसी तरह तीन, चार, संख्यात, असंख्यात और अनन्त परमाणुओंके मेलसे उतने ही प्रदेशी स्कन्ध बनता है। तथा एक स्कन्धमें दूसरे स्कन्धके मिलनेसे या अन्य परमाणुओंके मिलनेसे भी स्कन्ध बनता है। इन्हीं स्कन्धोंके टूटनेसे भी दो प्रदेशी स्कन्ध तक स्कन्धोंकी उत्पत्ति होती है। इसी तरह एक स्कन्धके टूटकर दूसरे स्कन्धमें मिल जानेसें भी स्कन्धकी उत्पत्ति होती है॥ २६॥

अब अणुकी उत्पत्ति बतलाते हैं—

भेदादणुः ॥ २७ ॥

अर्थ-अणुकी उत्पत्ति स्कन्धोंके टूटनेसे होती है, संघातसे नहीं होती ॥ २७॥

शंका-जब संघातसे ही स्कन्धोंकी उत्पत्ति होती है तो भेद संघातसे स्कन्धोंकी उत्पत्ति क्यों बतलाई ?

इस शंकाके समाधानके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

भेद-संघाताभ्यां चाक्षुपः ॥ २८ ॥

अर्थ-भेद और संघात दोनोंसे स्कन्ध चक्षु इन्द्रियका विषय होता है।

विशेषार्थ-आशय यह है कि अनन्त परमाणुओंका स्कन्ध होनेसे ही कोई स्कन्ध चक्षु इन्द्रियके द्वारा देखने योग्य नहीं हो जाता। किन्तु उनमें भी कोई दिखाई देने योग्य होता है और कोई दिखाई देने योग्य नहीं होता। ऐसी स्थितिमें यह प्रश्न पैदा होता

है कि जो स्कन्ध अदृश्य है वह दृश्य कैसे हो सकता है। तो उसके समाधानके लिये यह सूत्र कहा गया है, जो बतलाता है कि केवल भेदसे ही कोई स्कन्ध चक्षु इन्द्रियसे देखने योग्य नहीं हो जाता किन्तु भेद और संघात दोनोंसे ही होता है। जैसे, एक सूक्ष्म स्कन्ध है। वह टूट जाता है। टूटनेसे उसके दो टुकड़े हो जाने पर भी वह सूक्ष्म ही बना रहता है और इस तरह वह चक्षु इन्द्रियके द्वारा नहीं देखा जा सकता। किन्तु जब वह सूक्ष्म स्कन्ध दूसरे स्कन्धमें मिलकर अपने सूक्ष्मपनेको छोड़ देता है और स्थूल रूप धारण कर लेता है तो चक्षु इन्द्रियका विषय होने लगता है—उसे आंखसे देखा जा सकता है ॥ २८ ॥

अब द्रव्यका लक्षण कहते हैं—

सद् द्रव्यलक्षणम् ॥ २९ ॥

अर्थ—द्रव्यका लक्षण सत् है। अर्थात् जो सत् है वही द्रव्य है। ॥ २९ ॥

अब सत्का लक्षण कहते हैं—

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत् ॥ ३० ॥

अर्थ—जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त है, वही सत् है।

विशेषार्थ—अपनी जातिको न छोड़कर चेतन या अचेतन द्रव्यमें नई पर्यायके होनेको उत्पाद कहते हैं। जैसे मिट्टीके पिण्डमें घट पर्याय होती है। पहली पर्यायके नष्ट होनेको व्यय कहते हैं। जैसे, घट पर्यायके उत्पन्न होनेपर मिट्टीका पिण्डरूप आकार नष्ट हो जाता है। तथा पूर्व पर्यायका नाश और नई पर्यायका उत्पाद होनेपर भी अपने अनादि स्वभावको न छोड़ना ध्रौव्य है। जैसे पिण्ड आकारके नष्ट हो जाने पर और घट पर्यायके उत्पन्न होनेपर भी मिट्टी बनी रहती है। प्रत्येक द्रव्यमें ये तीनों धर्म एक साथ पाये जाते हैं;

क्योंकि नई पर्यायका उत्पन्न होना ही पहली पर्यायका नाश है और पहलेकी पर्यायका नाश होना ही नई पर्यायका उत्पाद है। तथा उत्पाद होनेपर भी द्रव्य वही रहता है। और व्यय होने पर भी द्रव्य वही रहता है। जैसे कुम्हार मिट्टीका लौंदा लेकर और उसको चाक पर रखकर जब घुमाता है तो क्षण क्षणमें उस मिट्टीकी पहली पहली हालत बदलकर नई नई हालत होती जाती है और मिट्टीकी मिट्टी बनी रहती है। ऐसा नहीं है जो मिट्टीकी नई हालत तो हो जाये और पहली हालत न बदले। या पहली हालत नष्ट हो जाये और नई हालत पैदा न हो। अथवा इन हालतोंके अदलने बदलनेसे द्रव्य भी औरका और हो जावे। यदि केवल उत्पादको ही माना जाये और व्यय तथा ध्रौव्यको न माना जाये तो नई वस्तुका उत्पन्न होना ही शेष रहा। ऐसी स्थितिमें बिना मिट्टीके ही घट बन जायेगा। तथा यदि वस्तुका विनाश ही माना जाय और उत्पाद तथा ध्रौव्यको न माना जाये तो घड़ेके फूट जाने पर ठीकरे या मिट्टी कुछ भी शेष न रहेंगे। इसी तरह यदि केवल ध्रौव्यको ही माना जाये और उत्पाद व्ययको न माना जाय तो जो वस्तु जिस हालतमें है वह उसी हालतमें बनी रहेगी और उसमें किसी भी तरहका परिवर्तन नहीं हो सकेगा। किन्तु ये सभी बातें प्रत्यक्ष विरुद्ध हैं। प्रत्यक्ष देखा जाता है कि प्रत्येक वस्तु परिवर्तन शील है—उसमें प्रति समय रद्दोबदल होतो है। फिर भी जो सत् है उसका सर्वथा विनाश नहीं होता और जो सर्वथा असत् है उसका उत्पाद नहीं होता। तथा परिवर्तनके होते हुए भी वस्तुका मूल स्वभाव अपरिवर्तित रहता है—जड़ चेतन नहीं हो जाता और न चेतन जड़ हो जाता है। अतः जो सत् है वह उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य स्वरूप ही है। उसे ही द्रव्य कहते हैं॥ ३०॥

आगे नित्यका स्वरूप बतलाते हैं—

तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—वस्तुके स्वभावको तद्भाव कहते हैं और उसका नाश न होना नित्यता है।

विशेषार्थ—यद्यपि प्रत्येक वस्तु परिवर्तन शील है किन्तु परिवर्तनके होते हुए भी वस्तुमें कुछ ऐसी एकरूपता बनी रहती है जिसके कारण हम उसे कालान्तरमें भी पहचान लेते हैं कि यह वही वस्तु है जिसे हमने पहले देखा था। उस एकरूपताका नाम ही नित्यता है। आशय यह है कि जैन धर्मने प्रत्येक वस्तुको जब प्रतिसमय परिवर्तनशील बतलाया तो यह प्रश्न पैदा हुआ कि जब प्रत्येक वस्तु परिवर्तन शील है तो वह नित्य कैसे है? इसका समाधान करनेके लिए सूत्रकारने बतलाया कि नित्यका मतलब यह नहीं है कि जो वस्तु जिस रूपमें है वह सदा उसी रूपमें बनी रहे और उसमें कुछ भी परिणमन न हो। बल्कि परिणमनके होते हुए भी उसमें ऐसी एकरूपताका बना रहना ही नित्यता है जिसे देखकर हम तुरन्त पहचानलें कि यह वही वस्तु है जिसे पहले देखा था ॥३१॥

उक्त कथनका यह अभिप्राय हुआ कि वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी है। ऐसी स्थितिमें यह शंका होती है कि जो नित्य है वह अनित्य कैसे है? इसके समाधानके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥ ३२ ॥

अर्थ—मुख्यको अर्पित कहते हैं और गौणको अनर्पित कहते हैं। मुख्यता और गौणतासे ही अनेक धर्मवाली वस्तुका कथन सिद्ध होता है।

विशेषार्थ—वस्तुमें अनेक धर्म हैं। उन अनेक धर्मोंमें से वक्ताका प्रयोजन जिस धर्मसे होता है वह धर्म मुख्य हो जाता है। और प्रयोजन न होनेसे बाकीके धर्म गौण हो जाते हैं। किन्तु

किसी एक धर्मकी प्रधानतासे कथन करनेका यह मतलब नहीं लेना चाहिये कि वस्तुमें अन्य धर्म हैं ही नहीं। अतः किसी धर्मकी प्रधानता और किसी धर्मकी अप्रधानतासे ही वस्तुकी सिद्धि होती है। जैसे, एक देवदत्त नामके पुरुषमें पिता, पुत्र, भाई, जमाई, मामा, भानजा आदि अनेक सम्बन्ध भिन्न भिन्न अपेक्षाओंसे पाये जाते हैं। पुत्रकी अपेक्षा वह पिता है। पिताकी अपेक्षा पुत्र है। भाईकी अपेक्षा भाई है। श्वसुरकी अपेक्षा जमाई है। भानजेकी अपेक्षा मामा है और मामाकी अपेक्षा भानजा है। इसमें कोई भी विरोध नहीं है। इसी तरह वस्तु सामान्यकी अपेक्षा नित्य है और विशेषकी अपेक्षा अनित्य है। जैसे घट, घटपर्यायकी अपेक्षा अनित्य है क्योंकि घड़ेके फूट जानेपर घटपर्याय नष्ट हो जाती है। और मिट्टीकी अपेक्षा नित्य है; क्योंकि घड़ेके फूट जानेपर भी मिट्टी कायम रहती है। इसी तरह सभी वस्तुओंके विषयमें समझ लेना चाहिये ॥ ३२ ॥

ऊपर यह बतलाया है कि स्कन्धोंकी उत्पत्ति भेद, संघात, और भेद-संघातसे होती है। इसमें यह शंका होती है कि दो परमाणुओंका संयोग हो जानेसे ही क्या स्कन्ध बन जाता है? इसका उत्तर यह है कि दो परमाणुओंका संयोग हो जानेपर भी जबतक उनमें रसायनिक प्रक्रियाके द्वारा बन्ध नहीं होता जो दोनोंको एक रूप करदे, तबतक स्कन्ध नहीं बन सकता। इसपर पुनः यह शंका होती है कि अनेक पुद्गलोंका संयोग होता देखा जाता है परन्तु उनमें किन्हींका परस्परमें बन्ध होता है और किन्हींका बन्ध नहीं होता, इसका क्या कारण है? इसके समाधानके लिए आगेका कथन करते हैं—

स्निग्ध-रूक्षत्वाद्बन्धः ॥ ३३ ॥

अर्थ—स्निग्धता अर्थात् चिकणपना और रूक्षता अर्थात्

रूखापना। इन दोनोंके कारण ही पुद्गल परमाणुओंका परस्परमें बन्ध होता है।

विशेषार्थ—पुद्गलोंमें स्नेह और रूक्ष गुण पाये जाते हैं। किन्हीं परमाणुओंमें रूक्ष गुण होता है और किन्हीं परमाणुओंमें स्नेह गुण होता है। स्नेह गुणके अविभागी प्रतिच्छेद बहुतसे होते हैं। इसी तरह रूक्ष गुणके अविभागी प्रतिच्छेद भी बहुतसे होते हैं। शक्तिके सबसे जघन्य अंशको अविभागी प्रतिच्छेद कहते हैं। एक एक परमाणुमें अनन्त अविभागी प्रतिच्छेद होते हैं और वे घटते बढ़ते रहते हैं। किसी समय अनन्त अविभागी प्रतिच्छेदसे घटते घटते असंख्यात अथवा संख्यात अथवा और भी कम अविभागी प्रतिच्छेद रह जाते हैं। और कभी बढ़कर संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त अविभागी प्रतिच्छेद हो जाते हैं। इस तरह परमाणुओंमें स्निग्धता और रूक्षता हीन या अधिक पायी जाती है, जिसका अनुमान हम स्कन्धोंको देखकर कर सकते हैं। जैसे, जलसे बकरीके दूधमें, बकरीके दूधसे गौके दूधमें, गौके दूधसे भैंसके दूधमें और भैंसके दूधसे ऊँटनीके दूधमें चिकनाई अधिक पायी जाती है। इसी तरह धूलसे रेतमें और रेतसे बजरीमें रूखापन अधिक पाया जाता है। वैसे ही परमाणुओंमें भी चिकनाई और रूखाई कमती बढ़ती होती है। यही पुद्गलोंके बन्धमें कारण है ॥ ३३ ॥

अतः जिन परमाणुओंमें स्निग्धता अथवा रूक्षताका एक अविभागी प्रतिच्छेद रह जाता है उनका बंध नहीं होता ॥ ३४ ॥

इस तरह जघन्य गुणवाले परमाणुओंके सिवा शेष सभी परमाणुओंका बन्ध प्राप्त हुआ। अतः उनमें भी और नियम करते हैं–

गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥ ३५ ॥

अर्थ–गुणोंकी समानता होनेपर सजातीय परमाणुओंका बन्ध नहीं होता।

विशेषार्थ–यदि बन्धनेवाले दो परमाणु सजातीय हों और उनमें बराबर बराबर अविभागी प्रतिच्छेद हों, तो उनका भी बन्ध नहीं होता। जैसे दो गुण स्नेहवाले परमाणुका दो गुण स्नेहवाले परमाणुके साथ बन्ध नहीं होता। दो गुण रूक्षतावाले परमाणुका दो गुण रूक्षतावाले परमाणुके साथ बन्ध नहीं होता। इसी तरह दो गुण रूक्षतावाले परमाणुका दो गुण स्निग्धतावाले परमाणुके साथ बन्ध नहीं होता। हाँ, यदि गुणोंमें समानता न हो तो सजातीयोंका भी बन्ध होता है। आशय यह है कि 'स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः' इस सूत्रसे केवल स्निग्धता और रूक्षता गुणवाले परमाणुओंका ही बन्ध सिद्ध होता है, स्निग्धता-स्निग्धतावालोंका या रूक्षता रूक्षतावालोंका बन्ध सिद्ध नहीं होता। अतः गुणोंमें विषमता होनेपर सजातीयोंका भी बन्ध बतलानेके लिए यह सूत्र बनाया गया है ॥ ३५ ॥

उक्त कथनसे यह सिद्ध हुआ कि विषमगुणवाले सभी सजातीय और विजातीय परमाणुओंका बन्ध होता है। अतः उसमें नियम करते हैं—

द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥३६॥

अर्थ–जिनमें दो गुण अधिक होते हैं उन्हीं परमाणुओंका परस्परमें बन्ध होता है।

विशेषार्थ—सजातीय हों अथवा विजातीय हों, जिस परमाणुमें स्निग्धताके दो गुण होते हैं उस परमाणुका एक गुण स्निग्धतावाले अथवा दो गुण स्निग्धतावाले अथवा तीन गुण स्निग्धतावाले परमाणुओंके साथ बन्ध नहीं होता, किन्तु जिनमें चार गुण स्निग्धताके होते हैं, उसके साथ बन्ध होता है। तथा उस दो गुण स्निग्ध परमाणुका पांच, छै, सात, आठ, नौ, संख्यात, असंख्यात और अनन्त गुण स्निग्ध परमाणुके साथ भी बन्ध नहीं होता। इसी तरह तीन गुण स्निग्धवाले परमाणुका पाँच गुण स्निग्धतावाले परमाणुके साथ ही बन्ध होता है, न उससे कम गुणवालोंके साथ बन्ध होता है और न उससे अधिक गुणवाले परमाणुओंके साथ बन्ध होता है। तथा दो गुण रूक्ष परमाणुका चार गुण रूक्ष परमाणुके साथ ही बन्ध होता है उससे कम या अधिक गुणवालेके साथ नहीं होता। इसी तरह तीन गुण रूक्ष परमाणुका पाँच गुण रूक्ष परमाणुके साथ ही बन्ध होता है, उससे कम या अधिकके साथ बंध नहीं होता। यह तो हुआ सजातीयोंका बंध। इसी तरह भिन्न जातीयोंमें भी लगा लेना चाहिये। अर्थात् दो गुण स्निग्ध परमाणुका चार गुण रूक्ष परमाणुके साथ ही बंध होता है। तथा तीन गुण स्निग्ध परमाणुका पाँच गुण रूक्ष परमाणुके साथ ही बंध होता है उससे कम या अधिक गुणवालेके साथ बंध नहीं होता। 'न जघन्यगुणानाम्' इस सूत्रसे लगाकर आगेके सूत्रोंमें जो बंधका निषेध चला आता था उसका निवारण करनेके लिए इस सूत्रमें 'तु' पद लगा दिया है, जो निषेधको हटाकर बंधका विधान करता है ॥३६॥

अब यह शंका होती है कि अधिक गुणवालोंका ही बंध क्यों बतलाया, समान गुणवालोंका क्यों नहीं बतलाया ? इसका उत्तर इसके समाधानके लिए आगेका सूत्र कहते हैं —

बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ ॥३७॥

अर्थ—बन्ध होनेपर अधिक गुणवाला परमाणु अपनेसे कम गुणवाले परमाणुको अपने रूप कर लेता है।

विशेषार्थ—जब दो परमाणु अपनी अपनी पूर्व अवस्थाको छोड़कर एक तीसरी अवस्थाको अपनाते हैं तभी स्कन्ध बनता है। यदि ऐसा न हो और जैसे वस्त्रमें काले और सफेद धागे आपसमें संयुक्त होकर भी जुदे जुदे ही रहते हैं वैसे ही यदि परमाणु भी रहें तो कभी भी स्कन्ध नहीं बन सकता। अतः बन्ध होनेपर अधिक गुणवाला परमाणु अपनेसे कम गुणवाले परमाणुको अपने रूप कर लेता है। इससे दोनों मिलकर एक हो जाते हैं और उनके रूप रस आदि गुणोंमें भी परिवर्तन होकर स्कन्ध बन जाता है। इसीसे बंधनेवाले परमाणुओंमें दो गुणका अन्तर रक्खा। इससे अधिक अन्तर होनेसे एक परमाणु दूसरेमें लय तो हो सकता है किन्तु फिर तीसरी अवस्था पैदा न हो सकती; क्योंकि अल्प गुणवाला अपनेसे अधिक गुणवालेपर कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकता। इसी तरह अन्तर न रखनेसे भी दोनों समान बलशाली होनेसे एक दूसरेको अपने रूप न परिणमाकर अलग अलग ही रह जाते ॥३७॥

अब दूसरी तरहसे द्रव्यका लक्षण कहते हैं—

गुणपर्ययवत् द्रव्यम् ॥३८॥

अर्थ—जिसमें गुण और पर्याय पायी जाती हैं उसे द्रव्य कहते हैं।

विशेषार्थ—द्रव्यमें अनेक परिणमन होनेपर भी जो द्रव्यसे भिन्न नहीं होता, सदा द्रव्यके साथ ही रहता है वह गुण है। इसीसे गुणको अन्वयी कहा गया है। और जो द्रव्यमें आती जाती रहती है वह पर्याय है। इसीसे पर्यायको व्यतिरेकी कहा है। गुण पर्याय रूप ही द्रव्य है। जैसे, ज्ञान आदि जीवके गुण हैं

और रूप आदि पुद्गलके गुण हैं। न ज्ञान जीवको छोड़कर रह सकता है और न रूप आदि गुण पुद्गलको छोड़कर रह सकते हैं। हां, ज्ञानगुणमें भी परिणमन होता है जैसे घटज्ञान, पटज्ञान। और रूप आदिमें भी परिणमन होता है। यह परिणमन ही पर्याय है।

पहले द्रव्यका लक्षण सत् कहा था और सत्का लक्षण 'उत्पाद व्यय और ध्रौव्यसे जो युक्त हो वही सत् है' ऐसा कहा था। यहाँ गुण पर्यायवान्को द्रव्य कहा है। इन दोनों लक्षणोंमें कोई अन्तर नहीं है। एकके कहनेसे दूसरेका अन्तर्भाव हो जाता है; क्योंकि गुण ध्रुव होते हैं और पर्याय उत्पाद-विनाशशील होती हैं। यदि द्रव्यमें गुण न हों तो वह ध्रौव्य युक्त नहीं हो सकता और यदि पर्याय न हों तो वह उत्पाद-व्यययुक्त नहीं हो सकता। अतः जब हम कहते हैं कि द्रव्य ध्रौव्ययुक्त है तो उसका मतलब होता है कि द्रव्य गुणवान् है। और जब उसे उत्पाद-विनाशवाला कहते हैं तो उसका मतलब होता है कि वह पर्यायवान् है। अतः दोनों लक्षण प्रकारान्तरसे एक ही बातको कहते हैं। यहाँ इतना और समझ लेना चाहिये कि द्रव्य, गुण और पर्यायकी सत्ता जुदी जुदी नहीं है किन्तु सबका अस्तित्व अथवा सत्ता एक ही है जो द्रव्यके नामसे कही जाती है। इसीसे सत्को द्रव्य कहा है ॥३८॥

अब काल द्रव्यको कहते हैं—

कालश्च ॥३९॥

अर्थ—काल भी द्रव्य है।

विशेषार्थ—ऊपर द्रव्यके दो लक्षण बतलाये हैं। वे दोनों लक्षण कालमें पाये जाते हैं। इसका खुलासा इस प्रकार है— पहला लक्षण है कि जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पाये जावें वह द्रव्य है। सो काल द्रव्यमें ध्रौव्य पाया जाता है क्योंकि कालका

स्वभाव सदा स्थायी है। तथा उत्पाद और व्यय परके निमित्तसे भी होते हैं और स्वनिमित्तक भी होते हैं; क्योंकि काल द्रव्य प्रति समय अनन्त पदार्थोंके परिणमनमें कारण है अतः कार्यके भेदसे कारणमें भी प्रति समय भेद होना जरूरी है यह परनिमित्तक उत्पाद व्यय है। तथा कालमें अगुरुलघु नामके गुण भी पाये जाते हैं। उनकी वृद्धि हानि होनेकी अपेक्षासे उसमें स्वयं भी उत्पाद व्यय प्रति समय होता रहता है। दूसरा लक्षण है जो गुण पर्याय वाला हो वह द्रव्य है। सो काल द्रव्यमें सामान्य गुण भी पाये जाते हैं और विशेष गुण भी पाये जाते हैं। काल द्रव्य समस्त द्रव्योंकी वर्तनामें हेतु है। यह उसका विशेष गुण है; क्योंकि यह गुण अन्य किसी भी द्रव्यमें नहीं पाया जाता। और अचेतनपना, अमूर्तिकपना, सूक्ष्मपना, अगुरुलघुपना आदि सामान्य गुण हैं जो अन्य द्रव्योंमें भी पाये जाते हैं। उत्पाद-व्ययरूप पर्याय भी कालमें होती हैं। अतः दोनों लक्षणोंसे सहित होनेके कारण काल भी द्रव्य है। यह काल द्रव्य अमूर्तिक है क्योंकि उसमें रूप रस वगैरह गुण नहीं पाये जाते। तथा ज्ञान दर्शन आदि गुणोंसे रहित होनेसे अचेतन है। किन्तु काल द्रव्य बहु प्रदेशी नहीं है; क्योंकि लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशपर एक एक कालाणु रत्नोंकी राशिकी तरह अलग अलग स्थित है। वे आपसमें मिलते नहीं हैं। अतः काल द्रव्य काय नहीं है। और प्रत्येक कालाणु एक एक काल द्रव्य है। इससे काल द्रव्य एक नहीं है किन्तु जितने लोकाकाशके प्रदेस हैं उतने ही काल द्रव्य हैं। अतः काल द्रव्य असंख्यात हैं और वे निष्क्रिय हैं— एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशपर नहीं जाते जहाँके तहाँ ही बने रहते हैं॥ ३९ ॥-

अब व्यवहार कालका प्रमाण बतलाते हैं—

सोऽनन्तसमयः ॥ ४० ॥

अर्थ—वह काल द्रव्य अनन्त समय वाला है—अर्थात् कालके समयोंका अंत नहीं है।

विशेषार्थ—भूत, भविष्यत् और वर्तमान—ये व्यवहार कालके भेद हैं। सो वर्तमान कालका प्रमाण तो एक समय है; क्योंकि एक समयके समाप्त होनेपर वह भूत हो जाता है और जो दूसरा समय उसका स्थान लेता है वह वर्तमान कहलाता है। किंतु भूत और भविष्यत् काल अनन्त समय वाला है। इसीसे व्यवहार कालको अनंत समय वाला कहा है। अथवा यह सूत्र मुख्य कालका ही प्रमाण बतलाता है; क्योंकि एक कालाणु अनंत पर्यायोंकी वर्तनामें कारण है इसलिए उपचारसे कालाणुको अनंत कह सकते हैं। कालके सबसे सूक्ष्म अंशका नाम समय है। और समयोंके समूहका नाम आवली घड़ी आदि है। वह सब व्यवहार काल है, जो मुख्य काल द्रव्यकी ही पर्याय रूप है॥ ४०॥

अब गुणका लक्षण कहते हैं—

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः॥ ४१॥

अर्थ—जो द्रव्यके आश्रयसे रहते हैं तथा जिनमें अन्य गुण नहीं रहते, उन्हें गुण कहते हैं।

[शङ्का—गुणका यह लक्षण पर्यायमें भी पाया जाता है; क्योंकि पर्याय भी द्रव्यके आश्रयसे ही रहती है और उसमें गुण भी नहीं रहते। अतः यह लक्षण ठीक नहीं है?

समाधान—गुण तो सदा ही द्रव्यके आश्रयसे रहता है, कभी भी द्रव्यको नहीं छोड़ता। किन्तु पर्याय अनित्य होती है एक जाती है दूसरी आती है। अतः गुणका उक्त लक्षण पर्यायमें नहीं रहता]॥ ४१॥

अनेक जगह परिणाम शब्द आया है। अतः उसका लक्षण कहते हैं—

तद्भावः परिणामः ॥ ४२ ॥

अर्थ—धर्मादि द्रव्य जिस स्वरूपसे होते हैं उसे तद्भाव कहते हैं। और उस तद्भावका ही नाम परिणाम है।

विशेषार्थ—जिस द्रव्यका जो स्वभाव है वही परिणाम है। जैसे धर्म द्रव्यका स्वभाव जीव पुद्गलोंकी गतिमें निमित्त होना है। वही तद्भाव है। धर्म द्रव्यका परिणमन सदा उसी रूपसे होता है। इसी प्रकार अन्य द्रव्योंमें भी समझ लेना चाहिए ॥ ४२ ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥



अथ षष्ठोऽध्यायः

अजीव तत्त्वका व्याख्यान करके अब आस्रव तत्त्वका कथन करते हैं—

काय-वाङ्मनःकर्मयोगः ॥ १ ॥

अर्थ—काय, वचन और मनकी क्रियाको योग कहते हैं।

विशेषार्थ—वास्तवमें तो आत्माके प्रदेशोंमें जो हलन चलन होती है उसका नाम योग है। वह योग या तो शरीरके निमित्तसे होता है या वचनके निमित्तसे होता है अथवा मनके निमित्तसे होता है। इसलिए निमित्तके भेदसे योगके तीन भेद हो जाते हैं—काययोग, वचनयोग और मनोयोग। प्रत्येक योगके होनेमें दो कारण होते हैं—एक अन्तरंग कारण, दूसरा बाह्य कारण। अल्प ज्ञानियोंमें अन्तरंग कारण कर्मोंका क्षयोपशम है और केवल ज्ञानियोंमें अन्तरंग कारण कर्मोंका क्षय है। तथा बाह्य कारण वे नोकर्म वर्गणाएं हैं जिनसे शरीर, वचन और मनकी रचना होती है तथा जिन्हें जीव हर समय ग्रहण करता रहता है। अतः वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम होनेपर सात प्रकारकी काय वर्गणाओंमें से किसी एक वर्गणाकी सहायतासे जो आत्म प्रदेशोंमें हलन चलन होता है उसे काययोग कहते हैं। वीर्यान्तराय और मत्यक्षरावरण आदि कर्मोंका क्षयोपशम होने से जब जीवमें वाग्लब्धि प्रकट होती है और वह बोलनेके लिए तत्पर होता है तब वचन वर्गणाके निमित्तसे जो आत्म प्रदेशोंमें हलन चलन होता है उसे वचन योग कहते हैं। वीर्यान्तराय और नो इन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमरूप मनो लब्धिके होनेपर तथा मनोवर्गणाका आलम्बन पाकर चिन्तनके

लिए तत्पर हुए आत्माके प्रदेशोंमें जो हलन चलन होता है उसे मनोयोग कहते हैं। उक्त कर्मोंका क्षय होने पर तीनों वर्गणाओंकी अपेक्षासे सयोग केवलीके आत्म प्रदेशोंमें जो हलन चलन होता है वह कर्मक्षय निमित्तक योग है। इस तरह योग तेरहवें गुणस्थान तक ही रहता है। इसीसे चौदहवें गुणस्थानका नाम अयोग-केवली है। अयोग केवलीके तीनों प्रकारकी वर्गणाओंका आना रुक जाता है इससे वहां योगका अभाव हो जाता है ॥ १ ॥

यह योग ही आस्रव है—

स आस्रवः ॥ २ ॥

अर्थ—यह योग ही आस्रव है। अर्थात् सरोवरमें जिस द्वारसे पानी आता है वह द्वार पानीके आनेमें कारण होनेसे आस्रव कहा जाता है वैसे ही योगके निमित्तसे आत्मामें कर्मोंका आगमन होता है इसलिए योग ही आस्रव है। आस्रवका अर्थ 'आगमन' है।

योगके द्वारा जो कर्म आता है वह कर्म दो प्रकारका है—पुण्य कर्म और पाप कर्म। अतः अब यह बताते हैं कि किस योगसे किस कर्मका आस्रव होता है—

शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥ ३ ॥

अर्थ—शुभ योगसे पुण्य कर्मका आस्रव होता है और अशुभ योगसे पाप कर्मका आस्रव होता है।

विशेषार्थ—किसीके प्राणोंका घात करना, चोरी करना, मैथुन सेवन करना आदि अशुभ काययोग है। झूठ बोलना, कठोर असभ्य वचन बोलना आदि अशुभ वचन योग है। किसीके मारनेका विचार करना, किसीसे ईर्ष्या रखना आदि अशुभ मनो-योग है। इनसे पाप कर्मका आस्रव होता है। तथा प्राणियोंकी

रक्षा करना, हित मित वचन बोलना, दूसरोंका भला सोचना आदि शुभ योग है। इनसे पुण्य कर्मका आस्रव होता है।

शंका–योग शुभ अशुभ कैसे होता है?

समाधान–शुभ परिणामसे होनेवाला योग शुभ है और अशुभ परिणामसे होनेवाला योग अशुभ है।

शङ्का–जो शुभ कर्मोंका कारण है वह शुभ योग है और जो पाप कर्मोंके आगमनमें कारण है वह अशुभ योग है। यदि ऐसा लक्षण किया जाय तो क्या हानि है?

समाधान–यदि ऐसा लक्षण किया जायगा तो शुभ योगका अभाव ही हो जायेगा; क्यों कि आगममें लिखा है कि जीवके आयुकर्मके सिवा शेष सात कर्मोंका आस्रव सदा होता रहता है। अतः शुभ योगसे भी ज्ञानावरण आदि पाप कर्मोंका बन्ध होता है। इसलिए ऊपरका लक्षण ही ठीक है।

शंका–जब शुभ योगसे भी घातिकर्मोंका बन्ध होता है तो सूत्रकारने ऐसा क्यों कहा कि शुभ योगसे पुण्य कर्मका बंध होता है?

समाधान–यह कथन घाति कर्मोंकी अपेक्षासे नहीं है। किन्तु अघाति कर्मोंकी अपेक्षासे है। अघातिया कर्मके दो भेद हैं–पुण्यऔर पाप। सो उनमेंसे शुभयोगसे पुण्य कर्मका आस्रव होता है और अशुभसे पाप कर्मका आस्रव होता है। शुभ योगके होते हुए भी घातिया कर्मोंका अस्तित्व रहता है उनका उदय भी होता है उसीसे घातिया कर्मोंका बन्ध होता है॥ ३॥

आगे स्वामीकी अपेक्षा आस्रवके भेद कहते हैं–

सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः॥ ४॥

अर्थ–कषाय सहित जीवोंके साम्परायिक आस्रव होता है। और कषाय रहित जीवोंके ईर्यापथ आस्रव होता है।

विशेषार्थ–स्वामीके भेदसे आस्रवमें भेद है। आस्रवके स्वामी दो हैं–एक सकषाय जीव, दूसरे कषाय रहित जीव। जैसे वट आदि वृक्षोंकी कषाय यानी गोंद वगैरह चिपकानेमें कारण होती है उसी तरह क्रोध आदि भी आत्मासे कर्मोंको चिपटा देते हैं इसलिए उन्हें कषाय कहते हैं। तथा जो आस्रव संसारका कारण होता है उसे साम्परायिक आस्रव कहते है और जो आस्रव केवल योगसे ही होता उसे ईर्यापथ आस्रव कहते हैं। इस ईर्यापथ आस्रवके द्वारा जो कर्म आते हैं उनमें एक समयकी भी स्थिति नहीं पड़ती; क्यों कि कषायके न होने से कर्म जैसे ही आते हैं वैसे ही चले जाते हैं। इसीसे कषाय सहित जीवोंके जो आस्रव होता है उसका नाम साम्परायिक है क्योंकि वह संसारका कारण है। और कषाय रहित जीवोंके अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थानसे ले कर तेरहवें गुणस्थान तक जो आस्रव होता है वह केवल योगसे ही होता है इसलिए उसे ईर्यापथ आस्रव कहते हैं॥ ४॥

साम्परायिक आस्रवके भेद कहते हैं—

इन्द्रिय-कषायाव्रतक्रियाः पञ्च-चतुः-पञ्च-पञ्चविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः॥ ५॥

अर्थ–इन्द्रिय पाँच, कषाय चार, अव्रत पाँच, क्रिया पचीस, ये सब साम्परायिक आस्रवके भेद हैं।

विशेषार्थ–पाँच इन्द्रियां पहले कह आये हैं। चार कषाय क्रोध, मान, माया और लोभ हैं। हिंसा, असत्य वगैरह पाँच अव्रत आगे कहेंगे। यहां पचीस क्रियाएं बतलाते हैं–देव, शास्त्र और गुरुकी पूजा आदि करने रूप जिन क्रियाओंसे सम्यक्त्वकी पुष्टि होती है उन्हें सम्यक्त्व क्रिया कहते हैं। कुदेव आदिकी पूजा आदि करने रूप जिन क्रियाओंसे मिथ्यात्वकी वृद्धि होती है उन्हें मिथ्यात्व क्रिया

कहते हैं। काय आदिसे गमन आगमन करना प्रयोग क्रिया है। संयमी होते हुए असंयमकी ओर अभिमुख होना समादान क्रिया है। जो क्रिया ईर्यापथमें निमित्त होती है वह ईर्यापथ क्रिया है ॥ ५ ॥ क्रोधके आवेशमें जो क्रिया की जाती है वह प्रादोषिकी क्रिया है। दुष्टतापूर्वक उद्यम करना कायिकी क्रिया है। हिंसाके उपकरण लेना आधिकरणिकी क्रिया है। जो क्रिया प्राणियोंको दुःख पहुँचाती है वह पारितापिकी क्रिया है। किसीकी आयु,इन्द्रिय, बल आदि प्राणोंका वियोग करना यानी जान ले लेना प्राणातिपातिकी क्रिया है ॥ १० ॥ प्रमादी जीव रागके वशमें,होकर जो सुन्दर रूपको देखनेका प्रयत्न करता है वह दर्शन क्रिया है। प्रमादसे आलिंगन करनेकी भावना स्पर्शन क्रिया है। विषयकी नई नई सामग्री जुटाना प्रात्ययिकी क्रिया है। स्त्री,पुरुष, पशु आदिके उठने बैठनेके स्थानपर मल मूत्र आदि करना समन्तानुपातन क्रिया है। बिना देखी बिना साफ की हुई जमीनपर उठना बैठना अनाभोग क्रिया है ॥ १५ ॥ दूसरेके करने योग्य कामको स्वयं करना स्वहस्त-क्रिया है। जो प्रवृत्ति पापका कारण है उसमें सम्मति देना निसर्ग क्रिया है। दूसरेके द्वारा किये गये पापको प्रकट कर देना विदारण क्रिया है। चारित्र मोहके उदयसे शास्त्र विहित आवश्यक क्रियाओंको पालनेमें असमर्थ होनेपर उनका अन्यथा कथन करना आज्ञाव्यापादिकी क्रिया है। शठता अथवा आलस्यसे आगममें कही हुई विधिका अनादर करना अनाकांक्ष क्रिया है ॥ २० ॥ छेदन भेदन आदि क्रियामें तत्पर रहना और दूसरा कोई वैसा करता हो तो देख कर प्रसन्न होना आरम्भ क्रिया है। परिग्रहकी रक्षामें लगे रहना परिग्राहिकी क्रिया है। ज्ञान दर्शन वगैरहके विषयमें कपट व्यवहार करना माया क्रिया है। कोई मिथ्यात्व क्रिया करता हो या दूसरेसे कराता हो तो उसकी प्रशंसा करके उसे उस काममें दृढ़ कर देना मिथ्यादर्शन क्रिया है। संयमको घातनेवाले कर्मके उदयसे संयमका

पालन नहीं करना अप्रत्याख्यान क्रिया है ॥ २५ ॥ ये पचीस क्रियाएं हैं जो साम्परायिक आस्रवके कारण हैं ॥ ५ ॥

सब संसारी जीवोंमें योगकी समानता होते हुए भी आस्रवमें भेद होनेका हेतु बतलाते हैं—

तीव्र-मन्द-ज्ञाताज्ञात-भावाधिकरण-वीर्यविशेषेभ्य स्तद्विशेषः ॥ ६ ॥

अर्थ—तीव्र भाव, मन्द भाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण और वीर्य, इनकी विशेषतासे आस्रवमें भेद हो जाता है।

विशेषार्थ—क्रोधादि कषायोंकी तीव्रताको तीव्र भाव कहते हैं। कषायोंकी मन्दताको मन्द भाव कहते हैं। अमुक प्राणीको मारना चाहिये ऐसा संकल्प करके उसे मारना ज्ञात भाव है। अथवा प्राणिका घात हो जानेपर यह ज्ञान होना कि मैंने इसे मार दिया यह भी ज्ञात भाव है। मदसे या प्रमादसे विना जाने ही किसीका घात हो जाना अज्ञात भाव है। आस्रवके आधार द्रव्यको अधिकरण कहते हैं। और द्रव्यकी शक्ति विशेषको वीर्य कहते हैं। इनके भेदसे आस्रवमें अन्तर पड़ जाता है। ये जहाँ जैसे होते हैं वैसा ही आस्रव भी होता है ॥ ६ ॥

अधिकरणके भेद बतलाते हैं—

अधिकरणं जीवाजीवाः ॥ ७ ॥

अर्थ—आस्रवके आधार जीव और अजीव हैं। यद्यपि जीव और अजीव दो ही हैं फिर भी जिस तिस पर्यायसे युक्त जीव अजीव हो अधिकरण होते हैं, और पर्याय बहुत हैं। इसलिए सूत्रमें 'जीवाजीवाः' बहुवचनका प्रयोग किया है ॥ ७ ॥

अब जीवाधिकरणके भेद कहते हैं—

आद्यं संरम्भ-समारम्भारम्भ-योग-कृत-कारितानुमत-कषाय-
विशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥८॥

अर्थ—संरम्भ-समारम्भ-आरम्भ ये तीन, मन-वचन-काय ये तीन, कृत-कारित-अनुमोदन ये तीन, क्रोध मान माया और लोभ ये चार, इन सबको परस्परमें गुणा करनेसे जीवाधिकरणके एक सौ आठ भेद होते हैं।

विशेषार्थ—प्रमादी होकर हिंसा वगैरह करनेका विचार करना संरम्भ है। हिंसा वगैरहको साधन सामग्री जुटाना समारम्भ है। हिंसा वगैरह करना आरंभ है। स्वयं करना कृत है। दूसरेसे कराना कारित है। कोई करता हो तो उसकी सराहना करना अनुमोदना है। इसमें मूल वस्तु संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ है। इन तीनोंमेंसे प्रत्येकके काय, वचन और मनके भेदसे तीन तीन प्रकार हैं। इन तीन तीन प्रकारोंमेंसे भी प्रत्येक भेदके कृत कारित और अनुमोदनाकी अपेक्षासे तीन तीन भेद हैं। इस प्रकार संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ के नौ नौ प्रकार हुए। इन नौ नौ प्रकारोंमेंसे भी प्रत्येक प्रकार चार कषायोंकी अपेक्षासे चार चार प्रकारका होता है। अतः प्रत्येकके ३६, ३६ भेद होनेसे तीनोंके मिलकर १०८ भेद होते हैं। ये ही जीवाधिकरणके भेद हैं ॥ ८ ॥

इसके अनन्तर अजीवाधिकरणके भेद कहते हैं—

निर्वर्तना-निक्षेप-संयोग-निसर्गा द्वि-चतुर्द्वि-त्रि-
भेदाः परम् ॥ ९ ॥

अर्थ—निर्वर्तनाके दो भेद, निक्षेपके चार भेद, संयोगके दो भेद और निसर्गके तीन भेद, ये सब अजीवाधिकरणके भेद हैं।

विशेषार्थ—उत्पन्न करने, रचना करने अथवा बनानेका नाम

निर्वर्तना है। उसके दो भेद हैं—मूल गुण निर्वर्तना और उत्तरगुण निर्वर्तना। शरीर, वचन, मन और श्वास निश्वासकी रचना करना मूलगुण-निर्वर्तना है और लकड़ी वगैरहपर चित्र आदि बनाना उत्तर गुण-निर्वर्तना है। निक्षेप नाम रखनेका है। उसके चार भेद हैं—विना देखे वस्तुको रख देना अप्रत्यवेक्षित निक्षेप है। दुष्टतावश असावधानीसे वस्तुको रखना दुःप्रमृष्ट निक्षेप है। किसी भयसे या किसी अन्य कार्य करनेकी शीघ्रतासे वस्तुको जमीनपर जल्दीसे पटक देना सहसा-निक्षेप है। और विना साफ की हुई तथा विना देखी हुई भूमिमें पड़ रहना अनाभोग-निक्षेप है। अनेक वस्तुओंके मिलानेको संयोग कहते हैं। उसके दो भेद हैं—शीत और उष्ण उपकरणोंको मिला देना या शुद्ध और अशुद्ध उपकरणोंको मिलाना उपकरण संयोग है। सचित्त और अचित्त खान पानको एकमें मिला देना भक्तपान संयोग है। निसर्ग नाम प्रवृत्ति करनेका है। उसके तीन भेद हैं—दुष्टतापूर्वक मनकी प्रवृत्ति करना मनोनिसर्ग है। दुष्टतापूर्वक वचनकी प्रवृत्ति करना वाग्निसर्ग है। और दुष्टता पूर्वक कायकी प्रवृत्ति करना कायनिसर्ग है॥ ९॥

इस प्रकार जीव और अजीव द्रव्यके आश्रयसे ही कर्मका आस्रव होता है। अब सामान्य आस्रवको कह कर विशेष आस्रवका कथन करते हैं। प्रथम ही ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मके आस्रवके कारण कहते हैं—

तत्प्रदोष-निह्नव-मात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञान-दर्शनावरणयोः ॥१०॥

अर्थ—ज्ञान और दर्शनके विषयमें प्रदोष, निन्हव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादना और उपघातके करनेसे ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मका आस्रव होता है।

विशेषार्थ—कोई पुरुष मोक्षके साधन तत्त्वज्ञानका उपदेश करता हो तो मुखसे कुछ भी न कहकर हृदयमें उससे ईर्ष्या आदि रखना प्रदोष है। अपनेको शास्त्रका ज्ञान होते हुए भी किसीके पूछनेपर यह कह देना कि मैं नहीं जानता, निह्नव है। अपनेको शास्त्रका ज्ञान होते हुए भी दूसरोंको इसलिए नहीं देना कि वे जान जायेंगे तो मेरे बराबर हो जायेंगे, मात्सर्य है। किसीके ज्ञानाभ्यासमें विघ्न डालना अन्तराय है। सम्यग्ज्ञानका समादर न करना, उल्टे उसके उपदेष्टाको रोक देना आसादना है। और सम्यग्ज्ञानको एकदम झूठा बतलाना उपघात है। इनसे ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मका आस्रव होता है ॥१०॥

आगे आसाता वेदनीय कर्मके आस्रवके कारण कहते हैं—

दुःख-शोक-तापाक्रन्दन-वध-परिदेवनान्यात्म-परोभय-स्थानान्यसद्वेद्यस्य ॥११॥

अर्थ—दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन इन्हें स्वयं करनेसे, दूसरोंमें करनेसे तथा दोनोंमें करनेसे आसाता वेदनीय कर्मका आस्रव होता है।

विशेषार्थ—पीड़ा रूप परिणामको दुःख कहते हैं। अपने किसी उपकारीका वियोग हो जानेपर मनका विकल होना शोक है। लोकमें निन्दा वगैरहके होनेसे तीव्र पश्चात्तापका होना ताप है। पश्चात्तापसे दुःखी हो कर रोना धोना आक्रन्दन है। किसीके प्राणोंका घात करना वध है। अत्यन्त दुखी होकर ऐसा रुदन करना जिसे सुनकर सुननेवालोंके हृदय द्रवित हो जायें, परिदेवन है। इस प्रकारके परिणाम जो स्वयं करता है या दूसरोंको दुखी करता या रुलाता है अथवा स्वयं भी दुखी होता है और दूसरोंको भी दुखी करता है उसके असातावेदनीय कर्मका आस्रव होता है।

शंका--यदि स्वयं दुःख उठाने और दूसरोंको दुःखमें डालनेसे असातावेदनीय कर्मका आस्रव होता है, तो तीर्थङ्करोंने केशलोंच, उपवास तथा धूप वगैरहमें खड़े हो कर तपस्या क्यों की और क्यों दूसरोंको वैसा करनेका उपदेश दिया ? क्योंकि ये सब बातें दुःख देनेवाली हैं।

समाधान--क्रोध आदि कषायके आवेशमें आकर जो दुःख स्वयं उठाया जाता है अथवा दूसरोंको दिया जाता है उससे असाता वेदनीय कर्मका आस्रव होता है। जैसे एक दयालु डाक्टर किसी रोगीका फोड़ा चीरता है। फोड़ा चीरनेसे रोगीको बड़ा कष्ट होता है। फिर भी डाक्टरको उससे पाप बन्ध नहीं होता; क्योंकि उसका प्रयत्न तो रोगीका कष्ट दूर करनेके लिए ही है। इसी तरह तीर्थङ्कर भी संसारके दुःखोंसे त्रस्त जीवोंके कल्याणकी भावनासे ही उन्हें मुक्तिका मार्ग बतलाते हैं। अतः उन्हें असाताका आस्रव नहीं होता ॥ ११ ॥

सातावेदनीय कर्मके आस्रवके कारण कहते हैं--

भूत-व्रत्यनुकम्पा-दान-सरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौच-मिति सद्वेद्यस्य ॥ १२ ॥

अर्थ--प्राणियोंपर और व्रती पुरुषोंपर दया करना यानी उनकी पीड़ाको अपनी पीड़ा समझना, दूसरोंके कल्याणकी भावनासे दान देना, राग सहित संयमका पालना, आदि शब्दसे संयमासंयम, (एक देश संयमका पालना), अकाम निर्जरा (अपनी इच्छा न होते हुए भी परवश होकर जो कष्ट उठाना पड़े उसे शान्तिके साथ सहन करना), बालतप (आत्म ज्ञान रहित तपस्या करना), इनको मनोयोग पूर्वक करना, क्षान्ति (क्षमा भाव रखना), शौच (सब प्रकारके लोभको छोड़ना) इस प्रकारके

कामोंसे सातावेदनीय कर्मका आस्रव होता है। यहाँ इतना विशेष जानना कि यद्यपि प्राणियोंमें व्रती भी आ जाते हैं फिर भी जो व्रतियोंका अलग ग्रहण किया है सो उनकी ओर विशेष लक्ष्य दिलानेके उद्देश्यसे किया है॥ १२॥

आगे दर्शन मोहनीय कर्मके आस्रवके कारण कहते हैं—

केवलि-श्रुत-संघ-धर्म-देवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥ १३ ॥

अर्थ—केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देवोंको झूठा दोष लगानेसे दर्शनमोहका आस्रव होता है।

विशेषार्थ—जिनका ज्ञान पूरा प्रकट होता है उन अर्हन्त भगवानको केवली कहते हैं। अर्हन्त भगवान भूख प्यास आदि दोषोंसे रहित होते हैं। अतः यह कहना कि वे हम लोगोंकी तरह ही ग्रासाहार करते हैं और उन्हें भूख प्यासकी बाधा सताती है उनको झूठा दोष लगाना है। उन केवलीके द्वारा जो उपदेश दिया जाता है उसे याद रखकर गणधर जो ग्रन्थ रचते हैं उन्हें श्रुत कहते हैं। उस श्रुतमें मांस भक्षणका विधान है ऐसा कहना श्रुतको झूठा दोष लगाना है। रत्नत्रयके धारी जैन श्रमणोंके समुदायको संघ कहते हैं। वे जैन साधु नंगे रहते हैं स्नान नहीं करते। अतः उन्हें शूद्र, निर्लज्ज, अपवित्र, आदि कहना संघको झूठा दोष लगाना है। जिन भगवानके द्वारा कहा हुआ जो अहिंसामयी धर्म है उसकी निन्दा करना धर्ममें झूठा दोष लगाना है। देवोंको मांस-भक्षी, मदिरा प्रेमी, परस्त्रीगामी आदि कहना देवोंमें झूठा दोष लगाना है। इन कामोंसे दर्शन मोहका आस्रव होता है॥ १३॥

आगे चारित्र मोहके आस्रवका कारण कहते हैं—

कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥ १४ ॥

अर्थ—कषायके उदयसे परिणामोंमें कलुषताके होनेसे चारित्र मोहनीय कर्मका आस्रव होता है ॥ १४ ॥

इसके बाद आयु कर्मके आस्रवके कारण बतलाते हुए पहले नरकायुके आस्रवके कारण कहते हैं—

बह्वारम्भ-परिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥ १५ ॥

अर्थ—बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह नरकायुके आस्रवके कारण है ॥ १५ ॥

तिर्यञ्च आयुके आस्रवके कारण कहते हैं—

माया तैर्यग्योनस्य ॥ १६ ॥

अर्थ—मायाचार तिर्यञ्च आयुके आस्रवका कारण है ॥ १६॥

मनुष्यायुके आस्रवके कारण कहते हैं—

अल्पारम्भ-परिग्रहत्वं मानुषस्य ॥ १७ ॥

अर्थ—थोड़ा आरम्भ और थोड़ा परिग्रह मनुष्यायुके आस्रवका कारण है ॥ १७ ॥

मनुष्यायुके आस्रवके और भी कारण हैं—

स्वभावमार्दवञ्च ॥ १८ ॥

अर्थ—स्वभावसे ही परिणामोंका कोमल होना भी मनुष्यायुके आस्रवका कारण है ॥ १८ ॥

और भी विशेष कहते हैं—

निःशील-व्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥ १९ ॥

अर्थ—यहाँ 'च' शब्दसे थोड़ा आरम्भ और थोड़ा परिग्रह लेना चाहिए। अतः थोड़ा आरम्भ और थोड़ा परिग्रह होनेसे तथा

शील और व्रतोंका पालन न करनेसे चारों ही आयुका आस्रव होता है।

शङ्का–क्या देवायुका भी आस्रव होता है?

समाधान–हाँ, होता है। भोगभूमिया जीवोंके व्रत और शील नहीं है। फिर भी उनके देवायुका ही आस्रव होता है ॥१६॥

देवायुके आस्रवके कारण कहते हैं—

सरागसंयम-संयमासंयमाकामनिर्जरा-बालतपांसि दैवस्य ॥२०॥

अर्थ–सराग संयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप, ये देवायुके आस्रवके कारण हैं। रागपूर्वक संयमके पालनेको सराग संयम कहते हैं। त्रस हिंसाका त्याग करने और स्थावर हिंसाके त्याग न करनेको संयमासंयम कहते हैं। पराधीनता वश जेलखाने वगैरहमें इच्छा न होते हुए भी भूख प्यास वगैरहके कष्टको शान्ति पूर्वक सहना अकामनिर्जरा है। आत्मज्ञान रहित तपको बालतप कहते हैं। इनसे देवायुका आस्रव होता है ॥ २० ॥

देवायुके आस्रवका और भी कारण है—

सम्यक्त्वञ्च ॥ २१ ॥

अर्थ–सम्यक्त्व भी देवायुके आस्रवका कारण है। यहाँ यद्यपि यह नहीं कहा है कि सम्यक्त्व अमुक देवायुका कारण है फिर भी अलग सूत्र बनानेसे यह अर्थ निकलता है कि सम्यक्त्वसे वैमानिक देवोंकी आयुका आस्रव होता है; क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव मर कर भवन-त्रिकमें जन्म नहीं लेता।

शङ्का–तो क्या सरागसंयम-आदि सूत्रमें जो देवायुके

आस्रवके कारण बतलाये हैं वे सब प्रकारकी देवायुके आस्रवके कारण हैं ? यदि ऐसा है तब तो सरागसंयम और संयमासंयम भी भवनवासी, आदि देवोंकी आयुके कारण हुए ?

समाधान-नहीं हुए, क्योंकि बिना सम्यक्त्वके सरागसंयम और संयमासंयम नहीं होते । अतः जब सम्यक्त्व वैमानिक देवायुका कारण है तो वे दोनों भी उसीके कारण हुए ॥ २१ ॥

इसके बाद नाम कर्मके आस्रवके कारण बतलाते हुए पहले अशुभ नाम कर्मके आस्रवके कारण बतलाते हैं—

योगवक्रता-विसंवादनञ्चाशुभस्य नाम्नः ॥ २२ ॥

अर्थ—मन वचन और कायकी कुटिलतासे तथा किसीको धर्मके मार्गसे छुड़ा कर अधर्मके मार्गमें लगानेसे अशुभ नाम कर्मका आस्रव होता है ।

शंका—योगवक्रता और विसंवादनमें क्या अंतर है ?

समाधान—जो मनुष्य किसीको धोखा देता है उसमें तो योग-वक्रता होती है तभी तो वह दूसरेको धोखा देता है । और दूसरेको धोखा देना विसंवादन है । अर्थात् दोनोंमें एक कारण है, दूसरा कार्य है ॥ २२ ॥

शुभ नामकर्मके आस्रवके कारण बतलाते हैं—

तद्विपरीतं शुभस्य ॥ २३

अर्थ—जो अशुभ नाम कर्मके आस्रवके कारण कहे हैं उनसे उल्टे शुभ नामकर्मके आस्रवके कारण हैं । अर्थात् मन वचन और कायकी सरलतासे और किसीको धोखा न देनेसे शुभ नाम-कर्मका आस्रव होता है ॥ २३ ॥

नाम कर्मके भेदोंमें एक तीर्थङ्कर नाम कर्म है उसका आस्रव कुछ विशेष कारणोंसे होता है । अतः उसे अलगसे बतलाते हैं—

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचा-
रोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोग-संवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी
साधुसमाधि-वैयावृत्यकरण-मर्हदाचार्य-बहुश्रुत-
प्रवचन भक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना
प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थंकरत्वस्य ॥ २४ ॥

अर्थ—दर्शन विशुद्धि (भगवान् अर्हन्त देवके द्वारा कहे गये निर्ग्रन्थता रूप मोक्ष मार्गमें आठ अंग सहित रुचिका होना), विनय सम्पन्नता (मोक्षके साधन सम्यग्ज्ञान वगैरहका और सम्यग्ज्ञानके साधन गुरु वगैरहका आदर सत्कार करना), शीलव्रतेषु-अनतिचार (अहिंसा आदि व्रतोंका और व्रतोंका पालन करनेके लिए बतलाये गये शीलोंका अतिचार रहित पालन करना), अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग (सदा सम्यग्ज्ञानके पठन पाठनमें लगे रहना), संवेग (संसारके दुःखोंसे सदा उद्विग्न रहना, शक्तितःत्याग (शक्तिके अनुसार विधि पूर्वक दान देना), शक्तितः तप (अपनी शक्तिके अनुसार जैन मार्गके अनुकूल तपस्या करना), साधु समाधि (तपस्वी मुनिके तपमें किसी कारणसे कोई विघ्न आ जाये तो उसे दूर करके उनके संयमकी रक्षा करना), वैयावृत्यकरण (गुणवान् साधुजनोंपर विपत्ति आनेपर निर्दोष विधिसे उसको दूर करना), अर्हद्भक्ति, आचार्य भक्ति, बहुश्रुत भक्ति, प्रवचन भक्ति (अर्हन्त देव, आचार्य उपाध्याय और आगमके विषयमें विशुद्ध भाव पूर्वक अनुराग होना), आवश्यकापरिहाणि (सामायिक, स्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छै आवश्यक कर्मोंमें कभी हानि न आने देना और प्रतिदिन नियत समयपर उन्हें बराबर करना) मार्ग प्रभावना (सम्यग्ज्ञानके द्वारा, तपके द्वारा या जिन पूजाके द्वारा जगतमें जैनधर्मका प्रकाश फैलाना), प्रवचन वत्सलत्व

(जैसे गौको अपने बच्चेसे सहज स्नेह होता है वैसे ही साधर्मी जनको देख कर चित्तका प्रफुल्लित हो जाना) ये सोलह भावनाएं तीर्थंकर नामकर्मके आस्रवमें कारण हैं। इन सबका अथवा इनमेंसे कुछका पालन करनेसे तीर्थंकर नामकर्मका आस्रव होता है किन्तु उनमें एक दर्शनविशुद्धिका होना आवश्यक है ॥ २४ ॥

नीच गोत्रके आस्रवके कारण कहते हैं—

परात्मनिन्दा-प्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥ २५ ॥

अर्थ—दूसरोंकी निन्दा करना, अपनी प्रशंसा करना, दूसरोंके मौजूदा गुणोंको भी ढांकना और अपनेमें गुण नहीं होते हुए भी उनको प्रकट करना, ऐसे भावोंसे नीच गोत्रका आस्रव होता है ॥ २५ ॥

इसके बाद उच्च गोत्रके आस्रवके कारण कहते हैं—

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥ २६ ॥

अर्थ—नीच गोत्रके आस्रवके कारणोंसे विपरीत कारणोंसे तथा नीचैर्वृत्ति और अनुत्सेकसे उच्चगोत्रका आस्रव होता है। अर्थात् दूसरोंकी प्रशंसा करना, अपनी निन्दा करना, दूसरोंके अच्छे गुणोंको प्रकट करना, और असमीचीन गुणोंको ढांकना किन्तु अपने समीचीन गुणोंको भी प्रकट न करना, गुणी जनोंके सामने विनयसे नम्र रहना और उत्कृष्ट ज्ञानी तपस्वी होते हुए भी घमण्डका न होना, ये सब उच्च गोत्रके आस्रवके कारण हैं ॥ २६ ॥

क्रमप्राप्त अन्तराय कर्मके आस्रवके कारण कहते हैं—

विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥ २७ ॥

अर्थ—दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्यमें विघ्न डालनेसे

अन्तराय कर्मका आस्रव होता है। अर्थात् दान देनेमें विघ्न करनेसे दानान्तराय कर्मका आस्रव होता है। किसीके लाभमें बाधा डालनेसे लाभान्तराय कर्मका आस्रव होता है। इसी तरह शेषमें भी जानना चाहिये।

शंका-आगममें कहा है कि जीवके आयु कर्मके सिवा शेष सात कर्मोंका आस्रव सदा होता रहता है। तब प्रदोष आदि करनेसे ज्ञानावरण आदि कर्मका ही आस्रव कैसे हो सकता है?

समाधान-यद्यपि प्रदोष आदिसे ज्ञानावरण आदि सभी कर्मोंका प्रदेशबन्ध होता है। अर्थात् प्रदोष आदिसे एक समयमें जिस समय-प्रबद्धका आस्रव होता है उसके परमाणु आयुके सिवा शेष सातों कर्मोंमें बट जाते हैं, तथापि यह कथन अनुभागकी अपेक्षासे है। अर्थात् प्रदोष आदि करनेसे ज्ञानावरण कर्ममें फल देनेकी शक्ति अधिक पड़ती है, दुःख देनेसे असात वेदनीय कर्ममें फल देनेकी शक्ति अधिक पड़ती है। वैसे बंध सातों ही कर्मोंका होता है।

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥



अथ सप्तमोऽध्यायः

आस्रव तत्त्वका कथन हो चुका। उसमें पुण्यकर्मके आस्रवका मामूलीसा कथन किया था। इस अध्यायमें उसका विशेष कथन करनेके लिए व्रतका स्वरूप बतलाते हैं—

हिंसाऽनृत-स्तेयाब्रह्म-परिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥ १ ॥

अर्थ—हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रहसे विरत होनेको व्रत कहते हैं।

विशेषार्थ—हिंसा आदि पापोंका बुद्धिपूर्वक त्याग करनेको व्रत कहते हैं। इन पाँचों पापोंका स्वरूप आगे बतलायेंगे। उनको त्यागनेसे अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच व्रत होते हैं। इन सबमें प्रधान अहिंसा व्रत है इसीसे उसे सब व्रतोंके पहले रखा है। शेष चारों व्रत तो उसीकी रक्षाके लिए हैं। जैसे खेतमें धान बोनेपर उसकी रक्षाके लिये चारों ओर बाड़ा लगा देते हैं वैसे ही सत्य आदि चार व्रत अहिंसा व्रतकी रक्षाके लिए बाड़ रूप हैं।

शङ्का—इन व्रतोंको आस्रवका हेतु बतलाना ठीक नहीं है; क्योंकि आगे नौवें अध्यायमें संवरके कारण बतलायेंगे। उनमें जो दश धर्म हैं उन दश धर्मोंमेंसे संयम धर्ममें व्रतोंका अन्तर्भाव होता है। अतः व्रत संवरके कारण हैं आस्रवके कारण नहीं है?

समाधान—यह ठीक नहीं है, संवर तो निवृत्ति रूप होता है, उसका कथन आगे किया जायगा। और ये व्रत निवृत्ति रूप नहीं है किंतु प्रवृत्ति रूप हैं। क्योंकि इनमें हिंसा, झूठ, चोरी

वगैरहको त्याग कर अहिंसा करनेका, सच बोलनेका, दी हुई वस्तुको लेनेका विधान है। तथा जो इन व्रतोंका अच्छी तरहसे अभ्यास कर लेता है वही संवरको आसानीसे कर सकता है। अतः व्रतोंको अलग गिनाया है ॥ १ ॥

अब व्रतोंके भेद बतलाते हैं–

देश-सर्वतोऽणु-महती ॥ २ ॥

अर्थ–इन पाँचों पापोंको एक देशसे त्याग करनेको अणुव्रत कहते हैं, और पूरी तरहसे त्याग करनेको महाव्रत कहते हैं ॥ २ ॥

इन व्रतोंकी रक्षाके लिये आवश्यक भावनाओंको बतलाते हैं–

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ॥३॥

अर्थ–इन व्रतोंको स्थिर करनेके लिए प्रत्येक व्रतकी पांच पांच भावनाएं हैं। उन भावनाओंका सदा ध्यान रहनेसे व्रत दृढ़ हो जाते हैं ॥३॥

सर्व प्रथम अहिंसा व्रतकी भावनाएं कहते हैं–

वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपान-भोजनानि पञ्च ॥ ४ ॥

अर्थ–वचन गुप्ति, मनो गुप्ति, ईर्यासमिति, आदान-निक्षेपण समिति और आलोकित-पानभोजन ये पांच अहिंसा व्रतकी भावनाएं हैं।

विशेषार्थ–वचनकी प्रवृत्तिको अच्छी रीतिसे रोकना वचन गुप्ति है। मनकी प्रवृत्तिको अच्छी रीतिसे रोकना मनोगुप्ति है। पृथ्वीको देखकर सावधानता पूर्वक चलना ईर्यासमिति है। सावधानता पूर्वक देख कर वस्तुको उठाना और रखना आदान-निक्षेपण समिति है। दिनमें अच्छी तरह देख भाल कर खाना पीना

आलोकित-पान भोजन है। इन पांच वातोंका ध्यान अहिंसा व्रतीको रखना चाहिए ॥४॥

दूसरे सत्यव्रतकी भावनाएं कहते हैं-

क्रोध-लोभ-भीरुत्व-हास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचि-भाषणञ्च पञ्च ॥५॥

अर्थ-क्रोधका त्याग, लोभका त्याग, भयका त्याग, हंसी दिल्लगीका त्याग और हित मित वचन वोलना, ये पांच सत्य व्रतकी भावना हैं। आशय यह है कि मनुष्य क्रोधसे, लालचसे, भयसे और हंसी करनेके लिए झूंठ वोलता है। अतः इनसे वचते रहना चाहिये और जव वोले तो सावधानीसे वोले जिससे कोई वात ऐसी न निकल जाये जो दूसरेको कष्टकर हो ॥५॥

तीसरे अचौर्यव्रतकी भावनाएं कहते हैं-

शून्यागार-विमोचितावास-परोपरोधाकरण-भैक्ष्यशुद्धि-सधर्माविसंवादाः पञ्च ॥६॥

अर्थ-शून्यागार अर्थात् पर्वतकी गुफा, वन और वृक्षोंके कोटरोंमें निवास करना, विमोचितावास अर्थात् दूसरोंके छोड़े हुए ऊजड़ स्थानमें निवास करना, परोपरोधाकरण अर्थात् जहां आप ठहरे वहां यदि कोई दूसरा ठहरना चाहे तो उसे रोकना नहीं और जहां कोई पहलेसे ठहरा हो तो उसे हटाकर स्वयं ठहरे नहीं, भैक्ष्य शुद्धि अर्थात् शास्त्रोक्त रीतिसे शुद्ध भिक्षा लेना और सधर्मा-विसंवाद अर्थात् साधर्मी भाइयोंसे लड़ाई झगड़ा नहीं करना ये पांच अचौर्यव्रतकी भावना हैं ॥६॥

इसके वाद ब्रह्मचर्यव्रतकी भावनाएं कहते हैं-

स्त्रीरागकथाश्रवण-तन्मनोहराङ्गनिरीक्षण-पूर्वरतानुस्मरण-वृष्येष्टरस-स्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च ॥ ७ ॥

अर्थ–स्त्रियोंके विषयमें राग उत्पन्न करने वाली कथाको न सुनना, स्त्रियोंके मनोहर अंगोंको न ताकना, पहले भोगे हुए भोगोंका स्मरण न करना, कामोद्दीपन करने वाले रसोंका सेवन न करना और अपने शरीरको इत्र तेल वगैरहसे न सजाना, ये पांच ब्रह्मचर्यव्रतकी भावनाएं हैं ॥७॥

अन्तमें परिग्रह त्याग व्रतकी भावना कहते हैं–

मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रिय-विषय-राग-द्वेष-वर्जनानि पञ्च ॥८॥

अर्थ–पांचो इन्द्रियोंके इष्ट विषयोंसे राग नहीं करना और अनि विषयोंसे द्वेष नहीं करना ये पांच परिग्रहत्याग व्रतकी भावनाएं हैं ॥८॥

जैसे इन व्रतोंको दृढ़ करनेके लिए ये भावनाएँ कहीं हैं वैसे ही इन व्रतोंके विरोधी जो हिंसा आदि हैं उनसे विमुख करनेके लिए भी भावनाएं कहते हैं–

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥९॥

अर्थ–हिंसा आदि पांच पाप इस लोक और पर लोकमें विनाशकारी तथा निन्द्यनीय हैं, ऐसी भावना करनी चाहिये।

विशेषार्थ–अर्थात् हिंसाके विषयमें विचारना चाहिये कि जो हिंसा करता है लोग सदा उसके वैरी रहते हैं। इस लोकमें उसे फांसी वगैरह होती है और मर कर भी वह नरक आदिमें जन्म लेता है अतः हिंसासे बचना ही श्रेष्ठ है। इसी तरह झूठ बोलने वालेका कोई विश्वास नहीं करता। इसी लोकमें पहले राजा उसकी जीभ कटा लेता था। तथा उसके झूठ बोलनेसे जिन लोगोंको कष्ट पहुंचता है वे भी उसके दुश्मन हो जाते हैं और उसे भरसक कष्ट देते हैं। तथा मर कर वह अशुभगतिमें जन्म लेता है अतः झूठ बोलनेसे बचना ही उत्तम है। इसी तरह चोरका सब तिरस्कार

करते हैं। इसी लोकमें उसे राजाकी ओरसे कठोर दण्ड मिलता है तथा मर कर भी अशुभगतिमें जाता है। अतः चोरीसे वचना ही उत्तम है। तथा व्यभिचारी मनुष्यका चित्त सदा भ्रान्त रहता है। जैसे जंगली हाथी जाली हथिनीके धोखेमें पड़ कर पकड़ा जाता है वैसे ही व्यभिचारी भी जब पकड़ा जाता है तो उसकी पूरी दुर्गति लोग कर डालते हैं। पुराने जमानेमें तो ऐसे आदमीका लिंग ही काट डाला जाता था। आज कल भी उसे कठोर दण्ड मिलता है। मर कर भी वह दुर्गतिमें जाता है अतः व्यभिचारसे वचना ही हितकर है। तथा जैसे कोई पक्षी मांसका टुकड़ा लिये हो तो अन्य पक्षी उसके पीछे पड़ जाते हैं, वैसे ही परिग्रही मनुष्यके पीछे चोर लगे रहते हैं। उसे धनके कमाने, जोड़ने और उसकी रखवाली करनेमें भी कम कष्ट नहीं उठाना पड़ता। फिर भी उसकी तृष्णा कभी शान्त नहीं होती, तृष्णाके वशीभूत होकर उसे न्याय अन्यायका ध्यान नहीं रहता। इसीसे मर कर वह दुर्गतिमें जाता है। यहाँ भी लोभी लोभी कह कर लोग उसकी निन्दा करते हैं। अतः परिग्रहसे वचना ही श्रेष्ठ है। इस तरह हिंसा आदि पापोंकी बुराई भी सोचते रहना चाहिये ॥ ९ ॥

और भी कहते हैं—

दुःखमेव वा ॥ १० ॥

अर्थ—हिंसा आदि पाप दुःख रूप ही हैं ऐसी भावना रखना चाहिए। क्योंकि हिंसादि दुःखके कारण हैं इसलिए दुःख रूप ही हैं ॥ १० ॥

इसके सिवा अन्य भावनाएं भी वताते हैं—

मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थानि च सत्त्व-गुणाधिक-क्लिश्यमानाविनेयेषु ॥ ११ ॥

अर्थ—समस्त प्राणियोंमें ऐसी (मैत्री) भावना रखना चाहिये कि किसी भी प्राणीको दुःख न हो। गुणवान् पुरुषोंको देखकर हर्षित होना चाहिये और अपनी भक्ति प्रकट करना चाहिये। दुःखी प्राणियोंको देखकर उनका दुःख दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिये। और जो उद्धत लोग हैं उनमें माध्यस्थ भाव रखना चाहिये। ऐसा करनेसे अहिंसा आदि व्रत परिपूर्ण होते हैं ॥ ११ ॥

अन्य भावनाओंका निर्देश करते हैं—

जगत्कायस्वभावौ वा संवेग-वैराग्यार्थम् ॥ १२ ॥

अर्थ—संवेग और वैराग्यके लिए जगतका और शरीरका स्वभाव विचारते रहना चाहिये।

विशेषार्थ—यह लोक अनादि-निधन है। बेतके आसनके ऊपर एक गोल झांझ रखो और उसपर एक मृदंग खड़ा करो, ऐसा ही लोकका आकार है। इसमें भटकते हुए जीव अनन्तकालसे नाना योनियोंमें दुःख भोग रहे हैं। यहाँ कुछ भी नियत नहीं है। जीवन जलके बुलबुलेके समान है, भाग सम्पदा बिजलीकी तरह चञ्चल है। इस तरह जगतका स्वभाव विचारनेसे संसारसे अरुचि पैदा होती है। इसी तरह यह शरीर अनित्य है, दुःखका कारण है, निःसार है, अपवित्र है, इत्यादि कायका स्वरूप विचारनेसे विषयोंमें राग नहीं होता। अतः व्रतीको जगतका और कायका स्वभाव भी विचारते रहना चाहिये ॥ १२ ॥

अब हिंसाका लक्षण कहते हैं—

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥ १३ ॥

अर्थ—प्रमादीपनेसे प्राणोंके घात करनेको हिंसा कहते हैं।

विशेषार्थ—हिंसा दो प्रकारकी है—एक द्रव्य हिंसा, दूसरी भाव

हिंसा। संसारमें सर्वत्र जीव पाये जाते हैं और वे अपने निमित्तसे मरते भी हैं। किंतु उनके मर जानेसे ही हिंसा नहीं हो जाती। इसीसे सूत्रमें 'प्रमत्त योगात्' पद दिया है। यह बतलाता है कि जो मनुष्य जीवोंकी हिंसा करनेके भाव नहीं रखता, बल्कि उनको बचानेके भाव रखता है उसके द्वारा जो हिंसा होती है उसका पाप उसे नहीं लगता। इसीसे कहा है कि 'प्राणोंका घात कर देनेपर भी हिंसाका पाप नहीं लगता'। शास्त्रकारोंने इस बातको एक दृष्टांतके द्वारा और भी स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं–'एक मनुष्य देख देखके चल रहा है। उसके पैर उठानेपर कोई क्षुद्र जन्तु उसके पैरके नीचे अचानक आ जाता है और कुचल कर मर जाता है तो उस मनुष्यको उस जीवके मारनेका थोड़ा सा भी पाप नहीं लगता।' इसके विपरीत यदि कोई असावधानीसे मार्गमें चलता है तो उसके द्वारा किसी जीवका घात हो या न हो, उसे हिंसाका पाप अवश्य लगता है। जैसा कि कहा है- 'जीव जिये या मरे जो अत्याचारी है उसे हिंसाका पाप अवश्य लगता है। किंतु जो यत्नाचारसे काम करता है उसे हिंसा होनेपर भी हिंसाका पाप नहीं लगता।' अतः हिंसा रूप परिणाम ही वास्तवमें हिंसा है। द्रव्य हिंसाको तो केवल इस लिए हिंसा कहा है कि उसका भाव-हिंसाके साथ सम्बन्ध है। किंतु द्रव्य-हिंसाके होनेपर भाव-हिंसाका होना अनिवार्य नहीं हैं। जैनेतर धर्मोंमें द्रव्य-हिंसा और भाव-हिंसाको अलग अलग न माननेसे ही निम्न शंका की गयी है कि 'जलमें जन्तु हैं थलमें जन्तु हैं, और पहाड़की चोटीपर चले जाओ तो वहाँ भी जन्तु हैं। इस तरह जब समस्तलोक जन्तुओंसे भरा हुआ है तो कोई अहिंसक कैसे हो सकता है।' जैन धर्ममें इसका उत्तर इस प्रकार दिया गया है–"जीव दो प्रकारके होते हैं–सूक्ष्म और स्थूल। सूक्ष्म तो न किसीसे रुकते हैं और न किसीको रोकते हैं अतः उनका तो कोई प्रश्न ही नहीं। रहे स्थूल, सो जिनकी रक्षा करना

संभव है उनकी रक्षाकी जाती है। अतः संयमी पुरुषको हिंसाका पाप कैसे लग सकता है" ॥ १३ ॥

अनृतका लक्षण कहते हैं—

असदभिधानमनृतम् ॥१४॥

अर्थ—जिससे प्राणियोंको पीड़ा पहुंचती हो, वह बात सच्ची हो अथवा झूठा हो उसका कहना अनृत अथवा असत्य है। जैसे काने मनुष्यको काना कहना झूठ नहीं है फिर भी इससे उसको पीड़ा पहुंचती है इसलिए ऐसा कहना असत्य ही है। आशय यह है तथा जैसा पहले ही लिख आये हैं कि प्रधान व्रत अहिंसा है। बाकीके चार व्रत उसीके पोषण और रक्षणके लिए हैं। अतः जो वचन हिंसाकारक है वह असत्य है ॥१४॥

क्रमप्राप्त चोरीका लक्षण कहते हैं—

अदत्तादानं स्तेयम् ॥१५॥

अर्थ—विना दी हुई वस्तुका लेना चोरी है। यहां भी 'प्रमत्त योगात्' इत्यादि सूत्रसे 'प्रमत्तयोग' पदकी अनुवृत्ति होती है। अतः बुरे भावसे जो परायी वस्तुको उठा लेनेमें प्रवृत्ति की जाती है वह चोरी है। उस प्रवृत्तिके बाद चाहे कुछ हाथ लगे या न लगे, हर हालतमें उसे चोरी ही कहा जायेगा ॥१५॥

इसके बाद अब्रह्मका लक्षण बतलाते हैं—

मैथुनमब्रह्म ॥१६॥

अर्थ—चारित्र मोहनीयका उदय होनेपर राग भावसे प्रेरित होकर स्त्री-पुरुषका जोड़ा जो रति सुखके लिए चेष्टा करता है उसे मैथुन कहते हैं। और मैथुनको ही अब्रह्म कहते हैं। कभी कभी दो पुरुषोंमें अथवा दो स्त्रियोंमें भी इस प्रकारको कुचेष्टा देखी

जाती है। और कभी कभी अकेला एक पुरुष ही कामसे पीड़ित होकर कुचेष्टा कर बैठता है। वह सब अब्रह्म है। जिसके पालनसे अहिंसा आदि धर्मोंकी वृद्धि होती है उसे ब्रह्म कहते हैं। और ब्रह्मका नहीं होना अब्रह्म है। यह अब्रह्म सब पापोंका पोषक है; क्यों कि मैथुन करनेवाला हिंसा करता है, उसके लिए झूठ बोलता है, चोरी करता है और विवाह करके गृहस्थी बसाता है ॥१६॥

अब परिग्रहका लक्षण कहते हैं—

मूर्छा परिग्रहः ॥१७॥

अर्थ—बाह्य गाय, भैंस, मणि, मुक्ता वगैरह चेतन अचेतन वस्तुओंमें तथा आन्तरिक राग, द्वेष, काम, क्रोधादि विकारोंमें जो ममत्व भाव है; कि ये मेरे हैं, इस भावका नाम मूर्छा है और मूर्छा ही परिग्रह है। वास्तवमें अभ्यन्तर ममत्व भाव ही परिग्रह है. क्योंकि पासमें एक पैसा न होने पर भी जिसे दुनिया भर को तृष्णा है वह परिग्रही है। बाह्य वस्तुओंको तो इसलिए परिग्रह कहा है कि वे ममत्व भावके होनेमें कारण होती हैं।

अब व्रतीका स्वरूप कहते हैं—

निःशल्यो व्रती ॥१८॥

अर्थ—जो शल्य रहित हो उसे व्रती कहते हैं।

विशेषार्थ—शरीरमें घुसकर तकलीफ देनेवाले कील कांटे आदिको शल्य कहते हैं। जैसे कील कांटा कष्ट देता है वैसे ही कर्मके उदयसे होनेवाला वि ार भी जीवको कष्टदायक है इसलिए उसे शल्य नाम दिया है। वह शल्य तीन हैं—माया, मिथ्यात्व और निदान। मायाचार या धूर्तताको माया कहते हैं। मिथ्या तत्त्वोंका श्रद्धान करना, कुदेवोंको पूजना मिथ्यात्व है। और विषय-भोगकी चाहको निदान कहते हैं। जो इन तीनों शल्योंको हृदयसे

निकाल कर व्रतोंका पालन करता है वही व्रती है। किन्तु जो दुनियाको ठगनेके लिए व्रत लेता है, या व्रत ले कर यह सोचता रहता है कि व्रत धारण करनेसे मुझे भोगनेके लिए अच्छी अच्छी देवांगनाएँ मिलेंगी, या जो व्रत लेकर भी मिथ्यात्वमें पड़ा है वह कभी भी व्रती नहीं हो सकता ॥१८॥

आगे व्रतीके भेद बतलाते हैं—

अगार्यनगारश्च ॥१९॥

अर्थ—व्रतीके दो भेद हैं—एक अगारी यानी गृहस्थ श्रावक और दूसरा अनगारी यानी गृह त्यागी साधु।

शंका—एक साधु किसी देवालयमें या खाली पड़े घरमें आकर ठहर गये तो वे अगारी हो जायेंगे। और एक गृहस्थ अपनी स्त्रीसे झगड़ कर जंगलमें जा बसा तो वह अनगारी कहलायेगा ?

समाधान—अगार यद्यपि मकानको कहते हैं किन्तु यहां बाहिरी मकान न लेकर मानसिक मकान लेना चाहिये। अतः जिस मनुष्यके मनमें घर बसा कर रहनेकी भावना है वह भले ही जंगलमें चला जाये, अगारी ही कहा जायेगा। और जिसके मनमें वैसी भावना नहीं है वह कुछ समयके लिए किसी मकानमें ठहरने पर भी अगारी नहीं कहा जायेगा ॥१९॥

क्रमशः अगारी व्रतीका स्वरूप बतलाते हैं—

अणुव्रतोऽगारी ॥२०॥

अर्थ—जो पांचों पापोंका एक देशसे त्याग करता है उस अणुव्रतीको अगारी कहते हैं। अर्थात् त्रस जीवोंकी हिंसा करनेका त्याग करना प्रथम अणुव्रत है। राग, द्वेष अथवा मोहके वशीभूत होकर ऐसा वचन न बोलना जिससे किसीका घर बरबाद हो जाये

या गांव पर मुसीबत आ जाये, दूसरा अणुव्रत है। जिससे दूसरेको कष्ट पहुंचे अथवा जिसमें राजदण्डका भय हो ऐसी विना दी हुई वस्तुको न लेनेका त्याग तीसरा अणुव्रत है। विवाहित या अविवाहित पर स्त्रीके साथ भोगका त्याग चौथा अणुव्रत है। धन, धान्य, जमीन जायदाद वगैरहका आवश्यकताके अनुसार एक प्रमाण निश्चित कर लेना पाँचवा अणुव्रत है। इन पाँचो अणुव्रतोंको जो नियम पूर्वक पालता है वही अगारी व्रती है ॥ २० ॥

अगारी व्रतीके जो और व्रत हैं उन्हें कहते हैं—

दिग्देशानर्थदण्डविरति-सामायिक-प्रोपधोपवासोपभोग-परिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च ॥ २१ ॥

अर्थ—दिग्विरति, देशविरति, अनर्थ-दण्ड विरति, सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोग-परिभोग परिमाण और अतिथि-संविभाग इन सात व्रतोंसे सहित गृहस्थ अणुव्रती होता है।

विशेषार्थ—पूर्व आदि दिशाओंमें नदी ग्राम, नगर आदि प्रसिद्ध स्थानोंकी मर्यादा बांध कर जीवन पर्यन्त उससे बाहर न जाना और उसीके भीतर लेन देन करना दिग्विरति व्रत है। इस व्रतके पालनेसे गृहस्थ मर्यादाके बाहर किसी भी तरहकी हिंसा नहीं करता। इसलिए उस क्षेत्रकी अपेक्षासे वह महाव्रती सा हो जाता है। तथा मर्यादाके बाहर व्यापार करनेसे प्रभूत लाभ होने पर भी व्यापार नहीं करता है अतः लोभकी भी कमी होती है। दिग्विरति व्रतकी मर्यादाके भीतर कुछ समयके लिए देशका परिमाण कर लेनेको देश-विरति व्रत कहते हैं। इसमें भी उतने समयके लिए श्रावक मर्यादासे बाहरके क्षेत्रमें महाव्रतीके तुल्य हो जाता है। जिससे अपना कुछ लाभ तो न हो और व्यर्थ ही पापका संचय होता हो ऐसे कामोंको अनर्थ-दण्ड कहते हैं और उनके

त्यागको अनर्थ-दण्ड विरति कहते हैं। अनर्थ-दण्डके पाँच भेद हैं—अपध्यान, पापोपदेश, प्रमादाचरित, हिंसादान और अशुभश्रुति। दूसरोंका बुरा विचारना कि अमुककी हार हो, अमुकको जेलखाना हो जाये, उसका लड़का मर जाये, यह सब अपध्यान है। दूसरोंको पापका उपदेश देना यानी ऐसे व्यापारकी सलाह देना जिससे प्राणियोंको कष्ट पहुँचे अथवा युद्ध वगैरहके लिए प्रोत्साहन मिले, पापोपदेश है। विना जरूरतके जंगल कटवाना, जमीन खुदवाना, पानी खराब करना आदि प्रमादाचरित है। विषैली गैस, अस्त्र, शस्त्र आदि हिंसाकी सामग्री देना हिंसादान है। हिंसा और राग आदिकी बढ़ानेवाली दुष्ट कथाओंका सुनना, सुनाना आदि अशुभ-श्रुति है। इस प्रकारके अनर्थ-दण्डोंका त्याग करना अनर्थ-दण्ड विरति है। तीनों सन्ध्याओंमें समस्त पापके कर्मोंसे विरत होकर नियत स्थानपर नियत समयके लिए मन वचन और कायके एकाग्र करनेको सामायिक कहते हैं। जितने समय तक गृहस्थ सामायिक करता है उतने समयके लिए वह महाव्रतीके समान हो जाता है। प्रोषध नाम पर्वका है। और जिसमें पाँचों इन्द्रियां अपने अपने विषयसे निवृत्त होकर उपवासी रहती हैं, उसे उपवास कहते हैं। प्रोषध अर्थात् पर्वके दिन उपवास करनेको प्रोषधोपवास कहते हैं। मोटे तौरपर तो चारों प्रकारके आहारका त्याग करना उपवास कहलाता है किन्तु यथार्थमें तो सभी इन्द्रियोंका विषय भोगसे निवृत्त रहना ही उपवास है। इसीके लिए भोजनका त्याग किया जाता है। अतः उपवासके दिन श्रावकको सब आरम्भ छोड़ कर और स्नान, तेल फुलेल, आदि न लगा कर चैत्यालयमें अथवा साधुओंके निवास स्थानपर या अपने ही घरके किसी एकान्त स्थानपर धर्मचर्चा करते हुए उपवासका समय विताना चाहिये। खानपान, गन्ध माला वगैरहको उपभोग कहते हैं और वस्त्र,

आभरण, अलंकार, सवारी, मकान वगैरहको परिभोग कहते हैं। कुछ समयके लिए अथवा जीवन पर्यन्तके लिए उपभोग और परिभोगका परिमाण करना कि मैं इतने समयतक इतनी वस्तुओंसे ही अपना काम चलाऊँगा, यह उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत है। जो अपने संयमकी रक्षा करते हुए विहार करता है उसे अतिथि कहते हैं। अथवा जिसके आनेका कोई दिन निश्चित नहीं है वह अतिथि है। मोक्षके लिए तत्पर संयमी अतिथिको शुद्ध चित्तसे निर्दोष भिक्षा देना अतिथि-संविभाग व्रत है। ऐसे अतिथियोंको आवश्यकता पड़नेपर योग्य औषध देना, रहनेको स्थान देना, धर्मके उपकरण पीछी कमण्डलु और शास्त्र वगैरह देना भी इसी व्रतमें सम्मिलित है। इस सूत्रमें 'च' शब्द गृहस्थके आगे कहे जानेवाले सल्लेखना धर्मको ग्रहण करनेके लिए दिया है॥ २१॥

अतः सल्लेखनाका निरूपण करते है–

मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता॥ २२॥

अर्थ–मरण काल उपस्थित होनेपर गृहस्थको प्रीतिपूर्वक सल्लेखना करना चाहिये।

विशेषार्थ–सम्यक् रीतिसे कायको और कषायको क्षीण करनेका नाम सल्लेखना है। जब मरण काल उपस्थित हो तो गृहस्थको सबसे मोह छोड़कर धीरे धीरे खाना पीना भी छोड़ देना चाहिये और इस तरह शरीरको कृश करनेके साथ ही कषायोंको भी कृश करना चाहिये तथा धर्मध्यान पूर्वक मृत्युका स्वागत करना चाहिये।

शंका–इस तरह जान बूझकर मौतको बुलाना क्या आत्मवध नहीं कहा जायेगा?

समाधान-नहीं, जब मनुष्य या स्त्री रागवश या द्वेषवश जहर खा कर, कुएमें या नदीमें डूबकर या फाँसी लगा कर अपना घात करते हैं तब आत्मघात होता है। किन्तु सल्लेखनामें यह बात नहीं है। जैसे, कोई व्यापारी नहीं चाहता कि जिस घरमें बैठ कर वह सुबहसे शामतक धन संचय करता है वह नष्ट हो जाये। यदि उसके घरमें आग लग जाती है तो भरसक उसको बुझानेकी चेष्टा करता है। किन्तु जब देखता है कि घरको बचाना असम्भव है तो फिर घरकी परवाह न करके धनको बचानेकी कोशिश करता है। इसी तरह गृहस्थ भी जिस शरीरके द्वारा धर्मको साधता है उसका नाश नहीं चाहता। और यदि उसके नाशके कारण रोग आदि उसे सताते हैं तो अपने धर्मके अनुकूल साधनोंसे उन रोग आदिको दूर करनेकी भरसक चेष्टा करता है। किन्तु जब कोई उपाय कारगर होता नहीं दिखायी देता और मृत्युके स्पष्ट लक्षण दिखायी देते हैं तब वह शरीरकी पर्वाह न करके अपने धर्मकी रक्षा करता है। ऐसी स्थितिमें सल्लेखनाको आत्मवध कैसे कहा जा सकता है? ॥ २२ ॥

इसके आगे व्रत दूषक कार्योंका विवेचन करनेके लिए सबसे पहिले सम्यक्त्वके पांच अतिचार कहते हैं—

शंका-कांक्षा-विचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसा-संस्तवाः
सम्यग्दृष्टेरतिचाराः ॥ २३ ॥

अर्थ-शङ्का, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि-प्रशंसा, अन्य दृष्टि-संस्तव, ये सम्यग्दर्शनके पांच अतिचार हैं।

विशेषार्थ-अरहन्त भगवान्‌के द्वारा कहे गये तत्त्वोंमें यह शङ्का होना कि ये ठीक हैं या नहीं, शङ्का है। अथवा अपनी आत्माको अखण्ड अविनाशी जान कर भी मृत्यु वगैरहसे डरना

सो शङ्का है। इस लोक या परलोकमें भोगोंकी चाहको कांक्षा कहते हैं। दुःखी, दरिद्री, रोगी, आदिको देखकर उससे घृणा करना विचिकित्सा है। मिथ्या-दृष्टियोंके ज्ञान, तप वगैरहकी मनमें सराहना करना अन्यदृष्टि प्रशंसा है और वचनसे तारीफ करना संस्तव है। ये पांच सम्यग्दर्शनके अतिचार यानी दोष हैं।

इसी तरह व्रत और शीलोंके अतिचारोंकी विधि कहते हैं—

व्रत-शीलेषु पंच पंच यथाक्रमम् ॥ २४ ॥

अर्थ—अहिंसादिक अणुव्रतोंमें और दिग्विरति आदि शीलोंमें क्रमसे पाँच पाँच अतिचार कहते हैं।

शंका—व्रत और शीलमें क्या अन्तर है?

समाधान—जो व्रतोंकी रक्षाके लिए होते हैं उन्हें शील कहते हैं ॥ २४ ॥

प्रारम्भमें अहिंसा अणुव्रतके अतिचार कहते हैं—

बन्ध-वध-च्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥ २५ ॥

अर्थ—बन्ध, वध, च्छेद, अतिभार-आरोपण और अन्नपान-निरोध ये पाँच अहिंसा अणुव्रतके अतिचार हैं।

विशेषार्थ—प्राणीको रस्सी सांकल वगैरहसे बांधना या पिंजरेमें बन्द कर देना, जिससे वह अपनी इच्छानुसार न जा सके सो बंध है। लाठी, डण्डे और कोड़े वगैरहसे पीटना वध है। पूंछ कान आदि अवयवोंको काट डालना छेद है। मनुष्य या पशुओंपर उनकी शक्तिसे अधिक भार लादना अथवा शक्तिसे बाहर काम लेना अति-भारारोपण है। और उन्हें समय पर खाना पीना न देना अन्न-पान-निरोध है। ये अहिंसा अणुव्रतके पांच अतिचार हैं ॥ २५ ॥

अब सत्य अणुव्रतके अतिचार कहते हैं—

मिथ्योपदेश-रहोभ्याख्यान-कूटलेखक्रिया-न्यासापहार-
साकारमंत्रभेदाः ॥ २५ ॥

अर्थ—मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूट-लेख-क्रिया, न्यासापहार और साकार-मन्त्र-भेद, ये पांच सत्याणुव्रतके अतिचार हैं।

विशेषार्थ—झूठ और अहितकर उपदेश देना मिथ्योपदेश है। स्त्री और पुरुषके द्वारा एकान्तमें की गयी क्रियाको प्रकट कर देना रहोभ्याख्यान है। किसीका दवाव पड़नेसे ऐसी झूठी वात लिख देना, जिससे दूसरा फँस जाये सो कूटलेखक्रिया है। कोई आदमी अपने पास कुछ धरोहर रख जाये और भूलसे कम मांगे तो उसको उसकी भूल न वतला कर जितनी वह माँगे उतनी ही दे देना न्यासापहार है। चर्चा वार्तासे अथवा मुखकी आकृति वगैरहसे दूसरेके मनकी बातको जान कर लोगोंपर इसलिए प्रकट कर देना कि उसकी वदनामी हो सो साकार-मंत्र-भेद है। ये सत्याणुव्रतके पांच अतिचार हैं॥ २६ ॥

आगे अचौर्याणुव्रतके अतिचार कहते हैं—

स्तेनप्रयोग-तदाहृतादान-विरुद्धराज्यातिक्रम-हीनाधिकमानोन्मान-प्रतिरूपकव्यवहाराः ॥ २७ ॥

अर्थ—स्तेन प्रयोग, तदाहृतादान, विरुद्ध-राज्यातिक्रम, हीनाधिक-मानोन्मान और प्रतिरूपक-व्यवहार ये पांच अचौर्याणुव्रतके अतिचार हैं।

विशेषार्थ—चोरको चोरी करनेकी स्वयं प्रेरणा करना, दूसरेसे प्रेरणा करवाना, करता हो तो उसकी सराहना करना, स्तेन-प्रयोग है। जिस चोरको चोरी करनेकी न तो प्रेरणा ही की

और न अनुमोदना ही की ऐसे किसी चोरसे चोरीका माल खरीदना तदाहृतादान है। राज नियमके विरुद्ध चोरबाजारी वगैरह करना विरुद्ध-राज्यातिक्रम है। तोलनेके बांटोंको मान कहते हैं और तराजुको उन्मान कहते हैं। बाट तराजु दो तरहके रखना, कमतीसे दूसरोंको देना और अधिकसे स्वयं लेना हीनाधिक-मानोन्मान है। जाली सिक्के ढालना अथवा खरी वस्तुमें खोटी वस्तु मिलाकर बेचना प्रतिरूपक व्यवहार है। ये पांच अचौर्याणुव्रतके अतिचार हैं॥ २७॥

क्रम प्राप्त ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतिचार कहते हैं—

परविवाहकरणेत्वरिका-परिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडा-कामतीव्राभिनिवेशाः ॥ २८ ॥

अर्थ—पर विवाह करण, अपरिगृहीत इत्वरिका गमन, परिगृहीत इत्वरिका गमन, अनङ्गक्रीडा और काम तीव्राभिनिवेश, ये पांच ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतिचार हैं।

विशेषार्थ—कन्याके वरण करनेको विवाह कहते हैं। दूसरोंका विवाह करना पर-विवाह-करण है। व्यभिचारिणी स्त्रीको इत्वरिका कहते हैं। वह दो प्रकारकी होती है—एक जिसका कोई स्वामी नहीं है और दूसरी जिसका कोई स्वामी है। इन दोनों प्रकारकी व्यभिचारिणी स्त्रियोंके यहां जाना आना, उनसे बातचीत, लेन देन वगैरह करना अपरिगृहीत और परिगृहीत इत्वरिका गमन हैं। काम सेवनके अंगोंको छोड़ कर अन्य अंगोंसे रति करना अनङ्गक्रीड़ा है। काम सेवनकी अत्यधिक लालसाको काम-तीव्राभिनिवेश कहते हैं। ये पांच अतिचार ब्रह्मचर्याणुव्रतके हैं।

परिग्रह-परिमाण व्रतके अतिचार कहते हैं—

क्षेत्र-वास्तु-हिरण्य-सुवर्ण-धन-धान्य-दासीदास-कुप्य-प्रमाणातिक्रमाः ॥ २९ ॥

अर्थ--क्षेत्र (खेत), वास्तु (मकान), हिरण्य (चांदी), सुवर्ण (सोना), धन (गाय बैल), धान्य (अनाज), दासी दास (टहल चाकरी करनेवाले स्त्री पुरुष) और कुप्य (सूती, ऊनी और रेशमी वस्त्र वगैरह) इन सबके किये हुए परिमाणको लोभमें आकर बढ़ा लेना परिग्रह-परिमाण व्रतके अतिचार हैं। सभी व्रतोंके अतिचार छोड़नेपर ही व्रतोंका निर्दोष पालन हो सकता है ॥ २६ ॥

अन्य व्रतोंमें दिग्विरतिके अतिचार कहते हैं—

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रम-क्षेत्रवृद्धि-स्मृत्यन्तराधानानि ॥३०॥

अर्थ—ऊर्ध्वातिक्रम, अधोऽतिक्रम, तिर्यगतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तराधान ये पांच दिग्विरति व्रतके अतिचार हैं।

विशेषार्थ—दिशाओंकी परिमित मर्यादाके लांघनेको अतिक्रम कहते हैं। संक्षेपसे उसके तीन भेद हैं-पर्वत या अमेरिकाके ऐसे ऊँचे मकान वगैरह पर चढ़नेसे ऊर्ध्वातिक्रम अतिचार होता है। कुएं वगैरहमें उतरनेसे अधोऽतिक्रम होता है और पर्वतकी गुफा वगैरहमें चले जानेसे तिर्यगतिक्रम होता है। दिशाओंका जो परिमाण किया है, लोभमें आकर उससे अधिक क्षेत्रमें जानेकी इच्छा करना क्षेत्रवृद्धि नामका अतिचार है। की हुई मर्यादाको भूल जाना स्मृत्यन्तराधान है ॥३०॥

इसके बाद देशव्रतके अतिचार कहते हैं—

आनयन-प्रेष्यप्रयोग-शब्द-रूपानुपात-पुद्गलक्षेपाः ॥३१॥

अर्थ--आनयन (अपने संकल्पित देशमें रहते हुए मर्यादासे बाहरके क्षेत्रकी वस्तुको किसीके द्वारा मंगाना), प्रेष्य प्रयोग (मर्यादासे बाहरके क्षेत्रमें किसीको भेजकर काम करा लेना), शब्दानुपात (मर्यादासे बाहरके क्षेत्रमें काम करनेवाले

पुरुषोंको लक्ष्य करके खांसना वगैरह, जिससे वे आवाज सुनकर जल्दी जल्दी काम करें), रूपानुपात (मर्यादाके बाहर काम करनेवाले पुरुषोंको अपना रूप दिखाकर काम कराना), पुद्गलक्षेप (मर्यादाके बाहर पत्थर वगैरह फेंककर अपना काम करा लेना) ये पांच देशविरति व्रतके अतिचार हैं॥ ३१॥

आगे अनर्थ-दण्ड विरति व्रतके अतिचार कहते हैं—

कन्दर्प-कौत्कुच्य-मौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोग परिभोगानर्थक्यानि ॥३२॥

अर्थ—कन्दर्प (रागकी अधिकता होनेसे हास्यके साथ अशिष्ट वचन बोलना), कौत्कुच्य (हास्य और अशिष्ट वचनके साथ शरीरसे भी कुचेष्टा करना), मौखर्य (धृष्टता पूर्वक बहुत बकवाद करना), असमीक्ष्याधिकरण (विना विचारे अधिक प्रवृत्ति करना), उपभोगपरिभोगानर्थक्य (जितने उपभोग और परिभोगसे अपना काम चल सकता हो उससे अधिकका संग्रह करना) ये पांच अनर्थ-दण्ड-विरति व्रतके अतिचार हैं ॥३२॥

क्रम प्राप्त सामायिकके अतिचार कहते हैं—

योगदुष्प्रणिधानानादर-स्मृत्यनुपस्थानानि ॥३३॥

अर्थ—काय दुष्प्रणिधान (सामायिक करते समय शरीरको निश्चल न रखना), वाग्दुष्प्रणिधान (सामायिकके मंत्रको अशुद्ध और जल्दी जल्दी बोलना), मनो दुष्प्रणिधान (सामायिकमें मनको न लगाना), अनादर (अनादर पूर्वक सामायिक करना), स्मृत्यनुपस्थापन (चित्त की चंचलतासे पाठ वगैरहको भूल जाना) ये पांच सामायिकके अतिचार हैं ॥३३॥

आगे प्रोपधोपवास व्रतके अतिचार कहते हैं—

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादान-संस्तरोपक्रमणानादर-स्मृत्यनुपस्थानानि ॥३४॥

अर्थ--अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित उत्सर्ग (जन्तु हैं या नहीं, यह विना देखे और भूमिको कोमल कूंची वगैरहसे विना साफ किये जमीनपर मल मूत्र वगैरह करना), अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित आदान (विना देखे और विना शोधे पूजाकी सामग्री और अपने पहिरनेके वस्त्र वगैरह उठा लेना), अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित संस्तरोपक्रमण (विना देखी और विना साफ की हुई भूमिपर चटाई वगैरह बिछाना), अनादर (उपवासके कारण भूख प्याससे पीड़ित होनेसे आवश्यक क्रियाओंमें उत्साह न होना), स्मृत्यनुपस्थापन (आवश्यक क्रियाओंको भूल जाना), ये पांच प्रोषधोपवास व्रतके अतिचार हैं ॥३४॥

इसके वाद भोगोपभोग परिमाण व्रतके अतिचार कहते हैं—

सचित्त-सम्बन्ध-सम्मिश्राभिषव-दुःपक्वाहारः ॥३५॥

अर्थ—सचित्त आहार (सचेतन पुष्प पत्र फल वगैरहका खाना), सचित्त सम्वन्ध आहार (सचित्तसे संबंधित वस्तुको खाना), सचित्त-सम्मिश्र-आहार (सचित्तसे मिली हुई वस्तुको खाना), अभिषव आहार (इन्द्रियोंको मद करनेवाली वस्तुको खाना), दुष्पक्वाहार (ठीक रीतसे नहीं पके हुए भोजनको करना), ये पांच भोगोपभोग परिमाण व्रतके अतिचार हैं। इस तरहका आहार करनेसे इन्द्रियां प्रबल हो सकती हैं, शरीरमें रोग हो सकता है, जिससे उपभोग परिभोगके किये हुए परिमाणमें व्यतिक्रम होनेकी संभावना है ॥३५॥

क्रम प्राप्त अतिथि-संविभाग व्रतके अतिचार कहते हैं—

सचित्तनिक्षेपापिधान-परव्यपदेश-मात्सर्य-कालातिक्रमाः ॥३६॥

अर्थ–सचित्तनिक्षेप (सचित्त कमलके पत्ते वगैरहपर रख कर आहार दान देना), सचित्त अपिधान (आहारको सचित्त पत्ते वगैरहसे ढक देना), परव्यपदेश (स्वयं दान न देकर दूसरेसे दिलवाना अथवा दूसरेका द्रव्य उठा कर स्वयं दे देना), मात्सर्य (आदर पूर्वक दान न देना अथवा अन्य दाताओंसे ईर्ष्या करना), कालातिक्रम (मुनियोंके अयोग्य कालमें भोजन करना), ये पाँच अतिथि-संविभाग व्रतके अतिचार हैं ॥३६॥

अन्तमें सल्लेखनाके अतिचार कहते हैं—

जीवित-मरणाशंसा-मित्रानुराग-सुखानुबन्ध-निदानानि ॥३७॥

अर्थ–जीविताशंसा (सल्लेखना करके जीनेकी इच्छा करना), मरणाशंसा (रोग आदिके कष्टसे घबरा कर जल्दी मरनेकी इच्छा करना), मित्रानुराग (जिनके साथ खेले थे उन मित्रोंका स्मरण करना), सुखानुबन्ध (भोगे हुए सुखोंको याद करना), निदान (आगेके भोगोंकी चाह होना), ये पाँच सल्लेखनाके अतिचार हैं ॥३७॥

अब दानका लक्षण कहते हैं—

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥ ३८ ॥

अर्थ–अपने और दूसरोंके उपकारके लिए धन वगैरहका देना सो दान है। अर्थात् दान देनेसे दाताको पुण्य बन्ध होता है और जिसे दान दिया जाता है उस पात्रके धर्म साधनमें उससे सहायता मिलती है। इन्हीं दो भावनाओंसे दिया गया दान वास्तवमें दान है ॥ ३८ ॥

दानके फलमें विशेषता कैसे होती है सो बतलाते हैं—

विधि-द्रव्य-दातृ-पात्रविशेषात्तद्विशेषः ॥ ३९ ॥

अर्थ–विधि, द्रव्य, दाता और पात्रकी विशेषतासे दानमें विशेषता होती है। आदरपूर्वक नवधा भक्तिसे आहार देना विधिकी विशेषता है। तप, स्वाध्याय आदिमें जो सहायक हो ऐसा सात्विक आहार आदि देना द्रव्यकी विशेषता है। किसीसे ईर्ष्या न करना, देते हुए खेद न होना आदि दाताकी विशेषता है और पात्रका विशिष्ट ज्ञानी, ध्यानी और तपस्वी होना, ये पात्रकी विशेषता है। इन विशेषताओंसे दानमें विशेषता होती है। और दानमें विशेषता होने से उसके फलमें विशेषता होती है ॥ ३९ ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥



अथ अष्टमोऽध्यायः ।

आस्रव तत्त्वका व्याख्यान हो चुका। अब बन्धका व्याख्यान करना है। अतः पहले बन्धके कारणोंको बतलाते हैं—

मिथ्यादर्शनाविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतवः ॥ १ ॥

अर्थ—मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच बन्धके कारण हैं।

विशेषार्थ—पहले कह आये हैं कि तत्त्वार्थके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं। उससे उल्टा यानी अतत्त्वोंके श्रद्धानको या तत्त्वोंके अश्रद्धानको मिथ्यादर्शन कहते हैं। उसके दो भेद हैं–मिथ्यात्व कर्मके उदयसे दूसरेके उपदेशोंके विना ही जो मिथ्या श्रद्धान होता है वह नैसर्गिक मिथ्यात्व है। इसको अगृहीत मिथ्यात्व भी कहते हैं, यह मिथ्यात्व एकेन्द्रिय आदि जीवोंके पाया जाता है। जो मिथ्यात्व दूसरोंके उपदेशसे होता है वह परोपदेशपूर्वक या गृहीत मिथ्यात्व कहलाता है। इसके पाँच भेद हैं–एकान्त, विपरीत, संशय, वैनयिक और अज्ञान। अनेक धर्मरूप वस्तुको एक धर्मरूप ही मानना एकान्त मिथ्यात्व है। जैसे, वस्तु सत् ही है, या असत् ही है, या नित्य ही है अथवा अनित्य ही है ऐसा मानना एकान्त मिथ्यात्व है। हिंसामें धर्म मानना, परिग्रहके होते हुए भी अपनेको निष्परिग्रही कहना विपरीत मिथ्यात्व है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षके मार्ग हैं या नहीं इस द्विविधाको संशय मिथ्यात्व कहते हैं। सब देवताओंको, सब धर्मोंको और सब साधुओंको समान मानना वैनयिक मिथ्यात्व है। हित और अहितका विचार न कर सकना अज्ञान मिथ्यात्व है। छै कायके

जीवोंकी हिंसाका त्याग न करना और पाँचो इन्द्रियोंको तथा मनको विषयोंमें जाने से नहीं रोकना, सो बारह प्रकारकी अविरति है। शुभ कार्योंमें आलस्य करने को प्रमाद कहते हैं। उसके पन्द्रह भेद हैं—स्त्री कथा, भोजन कथा, देश कथा और राज कथा ये चार कुकथाएँ, क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषायें, पाँच इन्द्रियाँ, निद्रा और स्नेह। सोलह कषाय और नव नोकषाय ये पच्चीस कषायें हैं। चार मनोयोग, चार बचन योग और सात काय योग ये पन्द्रह योग हैं। ये सब मिल कर भी तथा अलग अलग भी बन्धके कारण हैं। सो पहले मिथ्यात्व गुणस्थानमें तो पाँचो ही बन्धके कारण होते हैं। सासादन, मिश्र और अविरत सम्यग्दृष्टि नामके दूसरे तीसरे और चौथे गुणस्थानमें मिथ्यात्वको छोड़ कर शेष चार बन्धके कारण हैं। संयतासंयत नामके पाँचवें गुणस्थानमें अविरति और विरति तो मिली हुई हैं, क्योंकि उसमें त्रस हिंसाका त्याग तथा यथाशक्ति इंद्रिय निरोध होता है किंतु शेष तीन कारण पूरे हैं। प्रमत्त-संयत नामके छठे गुणस्थानमें प्रमाद, कषाय और योग तीन कारण रहते हैं। अप्रमत्त नामके सातवें गुणस्थानसे लेकर दसवें तक कषाय और योग दो ही कारण रहते हैं। उपशांत कषाय, क्षीण कषाय और सयोगकेवली नामके ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानोंमें केवल एक योग ही होता है। चौदहवें अयोग केवली गुणस्थानमें बंधका एक भी कारण नहीं है॥ १॥

अब बन्धका स्वरूप कहते हैं—

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः॥२॥

अर्थ—कषाय सहित होने से जीव जो कर्मके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है उसे बन्ध कहते हैं।

विशेषार्थ—समस्त लोक पुद्गलोंसे ठसाठस भरा हुआ है। वे पुद्गल अनेक प्रकारके हैं। उनमें अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु कर्म रूप होने के योग्य हैं। जब कषायसे संतप्त संसारी जीव योगके द्वारा हलन चलन करता है तो सब ओरसे कर्मयोग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है। जैसे आगसे तपा हुआ लोहेका गोला जलमें पड़ कर सब ओरसे पानीको खींचता है वैसे ही आत्मा योग और कषायके द्वारा कर्म योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है इसीका नाम बन्ध है। इस सूत्रमें 'कर्मयोग्यान्' न कहकर जो 'कर्मणो योग्यान्' कहा है उससे इस सूत्रमें एक विशेष बात बतलायी है। वह यह है कि जीव कर्मकी वजहसे सकषाय होता है और कषाय सहित होने से कर्मके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है। इससे यह बतलाया है कि जीव और कर्मका सम्बन्ध अनादि कालसे है। पूर्व बद्ध कर्मका उदय आने पर जीवमें कषाय पैदा होती है और कषाय पैदा होने से नवीन कर्मोंका बन्ध होता है। इस तरह कर्मसे कषाय और कषायसे कर्मकी परम्परा अनादि कालसे चली आती है। यदि ऐसा न मान कर बन्धको सादि माना जाये, अर्थात् यह माना जाये कि पहले जीव अत्यन्त शुद्ध था, पीछे उसके कर्म बन्ध हुआ तो जैसे अत्यन्त शुद्ध मुक्त जीवोंके कर्म बन्ध नहीं होता वैसे ही जीवके भी कर्म बन्ध नहीं हो सकेगा। अतः यह मानना पड़ता है कि जीव और कर्मका सम्बन्ध अनादि है। जैसे खाया हुआ भोजन उदराग्निके अनुसार खल भाग और रस भाग रूप हो जाता है वैसे ही तीव्र, मन्द या मध्यम जैसी कषाय होती है उसीके अनुसार कर्मोंमें स्थिति और अनुभाग पड़ता है। तथा जैसे आतशी काँचके बर्तनमें पड़े अनेक प्रकारके रस, बीज, फूल और फल गर्मी खा कर शराब रूप हो जाते हैं वैसे ही आत्मामें स्थित पुद्गल परमाणु योग और कषायकी वजहसे कर्मरूप हो जाते हैं। इसीको बन्ध कहते हैं ॥ २ ॥

इसके बाद बन्धके भेद कहते हैं—

प्रकृति-स्थित्यनुभाग-प्रदेशास्तद्विधयः ॥ ३ ॥

अर्थ—प्रकृति बन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभाग बन्ध और प्रदेश बन्ध ये बंधके चार भेद हैं।

विशेषार्थ—प्रकृति स्वभावको कहते हैं। जैसे नीमका स्वभाव कड़ुआपन है गुड़का स्वभाव मीठापन है। इसी तरह ज्ञानावरण कर्मका स्वभाव ज्ञानको ढाकना है, दर्शनावरणका स्वभाव वस्तुके सामान्य प्रतिभासको न होने देना है, वेदनीयका स्वभाव सुख-दुःखका वेदन है, दर्शन मोहका स्वभाव तत्त्वार्थका श्रद्धान न होने देना है, चारित्र मोहका स्वभाव संयमको रोकना है, आयुका स्वभाव जीवको किसी एक भवमें रोके रखना है, नाम कर्मका स्वभाव नारक तिर्यञ्च आदि कहलाना है, गोत्रका स्वभाव ऊँच-नीच व्यवहार कराना है, अन्तरायका स्वभाव दान वगैरहमें विघ्न डालना है। कर्मरूप पुद्गल परमाणुओंमें इस प्रकारके स्वभावका पड़ना प्रकृति-बन्ध है। तथा इस स्वभावका न छूटना स्थिति है। जैसे बकरी, गाय, भैंस वगैरहका दूध जब तक अपने मिष्ट स्वभावको नहीं छोड़ता तब तक उसकी स्थिति कहलाती है। वैसे ही ज्ञानावरण आदि कर्म जितने समय तक अपने स्वभावको नहीं छोड़ते, कर्मरूप बने रहते हैं उतनी उनकी स्थिति होती है। इस स्थितिके बंधनेको स्थिति-बंध कहते हैं। तथा जैसे बकरी, गौ और भैंसके दूधमें कम ज्यादा शक्ति होती है वैसे ही कर्मोंमें जो तीव्र या मन्द फल देनेकी शक्ति पड़ती है उसे अनुभव या अनुभाग बंध कहते हैं। जो पुद्गल स्कन्ध कर्मरूप होते हैं परमाणुके द्वारा उनका प्रमाण निश्चय होना कि इतने कर्म परमाणुओंका बन्ध हुआ सो प्रदेश-बन्ध है। इस तरह बन्धके चार भेद हैं। इनमें से प्रकृति बन्ध और प्रदेश बन्ध तो योगसे होते हैं और स्थिति बंध तथा अनुभाग बंध कषायसे होते

हैं। योग और कषायके तीव्र या मंद होने से इन बन्धोंमें अन्तर पड़ जाता है ॥ ३ ॥

आगे प्रकृति बन्धके भेद कहते हैं—

आद्यो ज्ञान-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीयायु-नाम-गोत्रान्तरायाः ॥ ४ ॥

अर्थ—प्रकृति बंधके ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, आयु, नाम गोत्र और अन्तराय, ये आठ भेद हैं ॥ ४ ॥

इन आठों कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियाँ बतलाते हैं—

पञ्च-नव-द्व्यष्टाविंशति-चतु-र्द्विचत्वारिंशद्-द्वि-पञ्चभेदा यथाक्रमम् ॥ ५ ॥

अर्थ—ज्ञानावरणके पाँच भेद हैं। दर्शनावरणके नौ भेद हैं। वेदनीयके दो भेद हैं। मोहनीयके अठाईस भेद हैं। आयुके चार भेद हैं। नामके बयालीस भेद हैं। गोत्रके दो भेद हैं और अन्तरायके पाँच भेद हैं ॥ ५ ॥

प्रथम ज्ञानावरणके पांच भेद गिनाते हैं—

मति-श्रुतावधि-मनःपर्यय-केवलानाम् ॥ ६ ॥

अर्थ—मति ज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, मनःपर्यय ज्ञानावरण और केवल ज्ञानावरण, ये ज्ञानावरणके पाँच भेद हैं।

[शंका—अभव्य जीवके मनःपर्यय ज्ञान शक्ति और केवलज्ञान शक्ति हैं या नहीं ? यदि हैं तो वह अभव्य नहीं और यदि नहीं हैं तो उसके मनःपर्यय ज्ञानावरण और केवल ज्ञानावरण मानना व्यर्थ है ?

समाधान–द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे अभव्यके भी दोनों ज्ञान शक्तियाँ हैं। किन्तु पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे नहीं है।

शंका–यदि अभव्यके भी दोनों ज्ञान शक्तियाँ हैं तो भव्य और अभव्यका भेद नहीं बनता, क्योंकि दोनोंके ही मनःपर्यय ज्ञानशक्ति और केवलज्ञान शक्ति है ?

समाधान–शक्तिके होने और न होने की अपेक्षा भव्य और अभव्य भेद नहीं हैं, किन्तु शक्तिके प्रकट होने की अपेक्षासे हैं। जिसके सम्यग्दर्शन आदि गुण प्रकट होंगे वह भव्य है और जिसके कभी प्रकट नहीं होंगे वह अभव्य है]॥ ६ ॥

दर्शनावरणके भेद कहते हैं–

चक्षुरचक्षुरवधि-केवलानां निद्रा-निद्रानिद्रा-प्रचला-प्रचला-प्रचला-स्त्यानगृद्धयश्च ॥ ७ ॥

अर्थ–चक्षु दर्शनावरण, अचक्षु दर्शनावरण, अवधि दर्शनावरण, केवल दर्शनावरण, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, ये दर्शनावरण कर्मके नौ भेद हैं।

विशेषार्थ–जो चक्षुके द्वारा वस्तुका सामान्य ग्रहण न होने दे वह चक्षु दर्शनावरण है। जो चक्षुके सिवा अन्य इन्द्रियोंके द्वारा वस्तुका सामान्य ग्रहण न होने दे वह अचक्षु दर्शनावरण है। जो अवधिदर्शनको रोके वह अवधि-दर्शनावरण और जो केवल दर्शनको न होने दे वह केवल दर्शनावरण है। मद, खेद और थकान दूर करने के लिए सोना निद्रा है। गहरी नींदको, जिसमें जीवका आँखे खोलना अशक्य होता है, निद्रानिद्रा कहते हैं। रंज, मेहनत और थकानके कारण बैठे बैठे ही ऊँघने लगना प्रचला है और प्रचलाकी अधिकताको प्रचलाप्रचला कहते हैं। जिसके

उदयसे जीव सोते सोते ही उठ कर कोई बड़ा भारी काम कर डाले उसे स्त्यानगृद्धि कहते हैं ॥ ७ ॥

अब तृतीय कर्म वेदनीयके भेद कहते हैं—

सदसद्वेद्ये ॥ ८ ॥

अर्थ—वेदनीयके दो भेद हैं साता और असाता । जिनके उदयसे जीव देव आदि गतियोंमें शारीरिक और मानसिक सुखका अनुभव करता है उसे साता वेदनीय कहते हैं और जिसके उदयसे अनेक प्रकारके दुःखका अनुभव करता है उसे असाता वेदनीय कहते हैं ॥ ८ ॥

अब मोहनीयके भेद कहते हैं—

दर्शन-चारित्रमोहनीयाकषाय-कषायवेदनीयाख्यास्त्रि-द्वि-नव-षोडशभेदाः सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-तदुभयान्य कषाय-कषायौ हास्य-रत्यरति-शोक-भय-जुगुप्सा-स्त्री-पुं-नपुंसकवेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यान-प्रत्या-ख्यान-संज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोध-मान-माया लोभाः ॥ ९ ॥

अर्थ—मोहनीय कर्मके दो भेद हैं—दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय । दर्शन मोहनीयके तीन भेद हैं—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्-मिथ्यात्व । चारित्र मोहनीयके दो भेद हैं—अकषाय वेदनीय और कषाय वेदनीय । अकषाय वेदनीयके नौ भेद हैं—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद । कषाय वेदनीयके सोलह भेद हैं—अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया-लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ और

संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ । इस तरह मोहनीयके अट्ठाईस भेद हैं।

विशेषार्थ—दर्शन मोहनीय कर्मके तीन भेदोंमें से बंध तो केवल एक मिथ्यात्वका ही होता है। किंतु जब जीवको प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है तो उस मिथ्यात्वके तीन भाग हो जाते हैं। अतः सत्ता और उदयकी अपेक्षा दर्शन मोहनीयके तीन भेद हैं। जिसके उदयसे जीव सर्वज्ञके द्वारा कहे गये मार्गसे विमुख, तत्त्वार्थके श्रद्धानके प्रति उदासीन और हित अहितके विचारसे शून्य मिथ्यादृष्टि होता है उसे मिथ्यात्व कहते हैं। जब शुभ परिणामके द्वारा उस मिथ्यात्वकी शक्ति घटा दी जाती है और वह आत्माके श्रद्धानको रोकने में असमर्थ हो जाता है तो उसे सम्यक्त्व मोहनीय कहते हैं और जब उसी मिथ्यात्वकी शक्ति आधी शुद्ध हो पाती है तब उसे सम्यक्मिथ्यात्व मोहनीय कहते हैं। उसके उदयसे जीवके श्रद्धान और अश्रद्धान रूप मिले हुए भाव होते हैं। चारित्र मोहनीयके दो भेद हैं--अकषाय वेदनीय और कषाय वेदनीय। अकषायका अर्थ ईषत् कषाय यानी किञ्चित् कषाय है। इसीसे अकषायको नोकषाय भी कहते हैं। क्रोध आदि कषायका बल पाकर ही हास्य आदि होते हैं, उसके अभावमें नहीं होते। इसलिए इन्हें अकषाय कहा जाता है। जिसके उदयसे हँसी आती है उसे हास्य कहते हैं। जिसके उदयसे किन्हीं विषयोंमें आसक्ति होती है उसे रति कहते हैं। जिसके उदयसे किन्हीं विषयोंसे द्वेष होता है उसे अरति कहते हैं। जिसके उदयसे रंज होता है उसे शोक कहते हैं। जिसके उदयसे डर लगता है उसे भय कहते हैं। जिसके उदयसे जीव अपने दोषोंको ढांकता है और दूसरोंको दोष लगाता है उसे जुगुप्सा कहते हैं। जिसके उदयसे स्त्रीत्वसूचक भाव होते हैं उसे स्त्री वेद कहते हैं। जिसके उदयसे पुरुषत्वसूचक भाव होते

रचना हो वह औदारिक शरीर नाम है। इस तरह शेषको भी समझ लेना। जिसके उदयसे अंग उपांगका भेद प्रकट हो वह अंगोपांग नाम कर्म है। उसके तीन भेद हैं—औदारिक शरीर अंगोपांग नाम, वैक्रियिक शरीर अंगोपांग नाम, आहारक शरीर अंगोपांग नाम। जिसके उदयसे अंग उपांगकी रचना हो वह निर्माण है। इसके दो भेद हैं–स्थान निर्माण और प्रमाण निर्माण। निर्माण नाम कर्म जातिके उदयके अनुसार चक्षु आदिकी रचना अपने अपने स्थानमें तथा अपने अपने प्रमाणमें करता है। शरीर नाम कर्मके उदयसे ग्रहण किए हुए पुद्गलोंका परस्परमें मिलन जिस कर्मके उदयसे होता है वह बन्धन नाम है। जिसके उदयसे औदारिक आदि शरीरोंके प्रदेशोंका परस्परमें छिद्ररहित एकमेकपना होता है वह संघात नाम है। जिसके उदयसे औदारिक आदि शरीरोंकी आकृति बनती है वह संस्थान नाम है। उसके छै भेद हैं—जिसके उदयसे ऊपर, नीचे तथा मध्यमें शरीरके अवयवोंकी समान विभागके लिए रचना होती है उसे समचतुरस्र संस्थान नाम कहते हैं। जिसके उदयसे नाभिके ऊपरका भाग भारी और नीचेका पतला होता है जैसे वटका वृक्ष, उसे न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान नाम कहते हैं। स्वाति यानी बाम्बीकी तरह नाभिसे नीचेका भाग भारी और ऊपरका दुबला जिस कर्मके उदयसे हो वह स्वाति संस्थान नाम है। जिसके उदयसे कुबड़ा शरीर हो वह कुब्जक संस्थान नाम है। जिसके उदयसे बौना शरीर हो वह वामन संस्थान नाम है। जिसके उदयसे विरूप अंगोपांग हों वह हुंडक संस्थान नाम है। जिसके उदयसे हड्डियोंके बन्धनमें विशेषता हो वह संहनन नाम है। उसके भी छै भेद हैं–वज्र वृषभ नाराच संहनन, वज्र नाराच संहनन, नाराच संहनन, अर्ध नाराच संहनन, कीलित संहनन और असंप्राप्तासृपाटिका संहनन नाम। जिसके उदयसे वृषभ यानी वेष्टन,

नाराच यानी कीलें और संहनन यानी हड्डियां वज्रकी तरह अभेद्य हों वह वज्र वृपभ नाराच संहनन नाम है। जिसके उदयसे कील और हड्डियाँ वज्रकी तरह हों और वेष्ठन सामान्य हो वह वज्र नाराच संहनन नाम है। जिसके उदयसे हाड़ोंके जोड़ोंमें कीलें हों वह नाराच संहनन नाम है। जिसके उदयसे हाड़ोंकी सन्धियां अर्धकीलित हों वह अर्धनाराच संहनन नाम है। जिसके उदयसे हाड़ परस्परमें ही कीलित हों अलगसे कील न हो, वह कीलित संहनन नाम है। जिसके उदयसे हाड़ केवल नस, स्नायु वगैरहसे बंधे हों वह असंप्राप्तासृपाटिका संहनन है। जिसके उदयसे शरीरमें स्पर्श प्रकट हो वह स्पर्श नाम है। उसके आठ भेद हैं—कर्कशनाम, मृदुनाम, गुरुनाम, लघुनाम, स्निग्धनाम, रूक्षनाम, शीतनाम, उष्णनाम। जिसके उदयसे शरीरमें रस प्रकट हो वह रस नाम है। उसके पांच भेद हैं—तिक्तनाम, कटुकनाम, कपायनाम, आम्लनाम, मधुरनाम। जिसके उदयसे शरीरमें गन्ध प्रकट हों वह गन्धनाम है। उसके दो भेद हैं—सुगन्धनाम और दुर्गन्ध नाम। जिसके उदयसे शरीरमें वर्ण यानी रंग प्रकट हो वह वर्णनाम है। उसके पांच भेद हैं—कृष्ण वर्ण नाम, शुक्ल वर्णनाम, नील वर्णनाम, रक्तवर्ण नाम और हरित वर्णनाम। जिसके उदयसे पूर्व शरीरका आकार बना रहे वह आनुपूर्व्य नाम कर्म है। उसके चार भेद हैं—नरक गति प्रायोग्यानुपूर्व्यनाम, तिर्यग्गति प्रायोग्यानुपूर्व्यनाम, मनुष्य गति प्रायोग्यानुपूर्व्यनाम, और देवगति प्रायोग्यानुपूर्व्यनाम। जिस समय मनुष्य या तिर्यञ्च मर कर के नरक गतिकी ओर जाता है तो मार्गमें उसकी आत्माके प्रदेशोंका आकार वैसा ही बना रहता है जैसा उसके पूर्व शरीरका आकार था जिसे वह छोड़कर आया है, यह नरकगति प्रायोग्यानुपूर्व्य नाम कर्मका कार्य है। इसी तरह अन्य आनुपूर्वियोंका कार्य जानना। आनुपूर्वी कर्मका उदय विग्रह

गतिमें ही होता है। जिसके उदयसे शरीर न तो लोहेके गोलेकी तरह भारी हो और न आककी रुईकी तरह हल्का हो वह अगुरुलघु नाम है। जिसके उदयसे जीव स्वयं ही अपना घात कर के मर जाये वह उपघात नाम है। जिसके उदयसे दूसरेके द्वारा चलाये गये शस्त्र आदिसे अपना घात हो वह परघात नाम है। जिसके उदयसे आतपकारी शरीर हो वह आतप नाम है। इसका उदय सूर्यके बिम्बमें जो बादर पर्याप्त पृथिवी कायिक जीव होते हैं उन्हींके होता है। जिसके उदयसे उद्योतरूप शरीर हो वह उद्योत नाम है। इसका उदय चन्द्रमाके बिम्बमें रहनेवाले जीवोंके तथा जुगुनु वगैरहके होता है। जिसके उदयसे उच्छ्वास हो वह उच्छ्वास नाम है। विहाय यानी आकाश। आकाशमें गमन जिस कर्मके उदयसे होता है वह विहायोगति नाम है। हाथी बैल वगैरहकी सुन्दर गतिके कारण कर्मको प्रशस्त विहायोगति नाम कहते हैं और ऊँट, गधे वगैरहकी खराब गतिके कारण कर्मको अप्रशस्त विहायोगति नाम कहते हैं। यहां ऐसा नहीं समझ लेना चाहिये कि पक्षियोंकी ही गति आकाशमें होती है। आकाश द्रव्य सर्वत्र है अतः सभी जीव आकाशमें ही गमन करते हैं। सिद्ध जीव और पुद्गलोंकी गति स्वाभाविक है कर्मके उदयसे नहीं है।

जिसके उदयसे शरीर एक जीवके ही भोगने योग्य होता है वह प्रत्येकशरीर नाम है। जिसके उदयसे बहुत-से जीवोंके भोगने योग्य साधारण शरीर होता है वह साधारण शरीर नाम है। अर्थात् साधारण शरीर नाम कर्मके उदयसे एक शरीरमें अनन्त जीव एक अवगाहना रूप होकर रहते हैं। वे सब एक साथ ही जन्म लेते हैं, एक साथ ही मरते हैं और एक साथ ही श्वास वगैरह लेते हैं। उन्हें साधारण वनस्पति कहते हैं। जिसके उदयसे द्वीन्द्रिय आदिमें जन्म हो वह त्रसनाम है। जिसके उदयसे एकेन्द्रियोंमें जन्म हो वह स्थावर नाम है। जिसके उदयसे दूसरे

जीव अपनेसे प्रीति करें वह सुभगनाम है। जिसके उदयसे सुन्दर सुरूप होने पर भी दूसरे अपनेसे प्रीति न करें अथवा घृणा करें वह दुर्भगनाम है। जिसके उदयसे स्वर मनोज्ञ हो जो दूसरोंको प्रिय लगे वह सुस्वर नाम है। जिसके उदयसे अप्रिय स्वर हो वह दुस्वर नाम है। जिसके उदयसे शरीरके अवयव सुन्दर हों वह शुभ नाम है। जिसके उदयसे शरीरके अवयव सुन्दर न हों वह अशुभ नाम है। जिसके उदयसे सूक्ष्म शरीर हो जो किसीसे न रुके वह सूक्ष्म नाम है। जिसके उदयसे स्थूल शरीर हो वह बादर नाम है। जिसके उदयसे आहार आदि पर्याप्तिकी पूर्णता हो वह पर्याप्ति नाम है। उसके छै भेद हैं—आहार पर्याप्ति नाम, शरीर पर्याप्ति नाम, इन्द्रिय पर्याप्ति नाम, प्राणापान पर्याप्ति नाम, भाषा पर्याप्ति नाम और मनः पर्याप्ति नाम। जिसके उदयसे पर्याप्तियोंकी पूर्णता नहीं होती वह अपर्याप्ति नाम है। जिसके उदयसे शरीरके धातु उपधातु स्थिर होते हैं जिससे कठिन श्रम करने पर भी शरीर शिथिल नहीं होता वह स्थिर नाम है। जिसके उदयसे धातु उपधातु स्थिर नहीं होते, जिससे थोड़ा-सा श्रम करने से ही या जरा-सी गर्मी सर्दी लगने से ही शरीर म्लान हो जाता है वह अस्थिर नाम है। जिसके उदयसे शरीर प्रभासहित हो वह आदेय नाम है और जिसके उदयसे शरीर प्रभा रहित हो वह अनादेय नाम है। जिसके उदयसे संसारमें जीवका यश फैले वह यशःकीर्ति नाम है और जिसके उदयसे संसारमें अपयश फैले वह अयशःकीर्ति नाम है। जिसके उदयसे अपूर्व प्रभावशाली अर्हन्त पदके साथ धर्म-तीर्थका प्रवर्त्तन होता है वह तीर्थंकर नाम है। इस तरह नामकर्मकी बयालीस प्रकृतियोंके ही तिरानवे भेद हो जाते हैं ॥११॥

अब गोत्र कर्मकी प्रकृतियाँ कहते हैं—

उच्चैर्नीचैश्च ॥ १२ ॥

अर्थ-गोत्रकर्मके दो भेद हैं-उच्च गोत्र और नीच गोत्र। जिसके उदयसे लोकमें अपने सदाचारके कारण पूज्य कुलमें जन्म होता है उसे उच्च गोत्र कहते हैं और जिसके उदयसे निन्दनीय आचरणवाले कुलमें जन्म हो वह नीच गोत्र है ॥ १२ ॥

अब अन्तराय कर्मके भेद कहते हैं—

दान-लाभ-भोगोपभोग-वीर्याणाम् ॥ १३ ॥

अर्थ—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय ये पांच भेद अन्तराय कर्मके हैं। जिसके उदयसे देने की इच्छा होते हुए भी नहीं देता है वह दानान्तराय है। लाभकी इच्छा होते हुए भी तथा प्रयत्न करने पर भी जिसके उदयसे लाभ नहीं होता है वह लाभान्तराय है। भोग और उपभोगको चाह होते हुए भी जिसके उदयसे भोग उपभोग नहीं कर सकता वह भोगान्तराय और उपभोगान्तराय है। उत्साह करने पर भी जिसके उदयसे उत्साह नहीं हो पाता वह वीर्यान्तराय है ॥ १३ ॥

प्रकृतिबन्धके भेद बतला कर अब स्थितिबन्धके भेद बतलाते हैं। स्थिति दो प्रकारकी है—उत्कृष्ट और जघन्य। पहले कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति कहते हैं—

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥ १४ ॥

अर्थ—आदिके तीन अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन कोटाकोटी सागर प्रमाण है। यह उत्कृष्ट स्थितिबन्ध संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीवके होता है ॥ १४ ॥

अब मोहनीयकी उत्कृष्ट स्थिति कहते हैं—

सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥ १५ ॥

अर्थ—मोहनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है। यह उत्कृष्ट स्थिति भी सैनी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीवके ही होती है॥ १५॥

अब नाम और गोत्र कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति कहते हैं—

विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥ १६ ॥

अर्थ—नाम और गोत्र कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है। यह उत्कृष्ट स्थिति भी सैनी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीवके ही होती है॥ १६॥

अब आयुकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति कहते हैं—

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥ १७ ॥

अर्थ—आयुकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर प्रमाण है। यह स्थिति संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तकके ही होती है॥ १७॥

अब जघन्य स्थिति-बन्धको बतलाते हुए पहले वेदनीयकी जघन्य स्थिति बतलाते हैं—

अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य ॥१८॥

अर्थ—वेदनीय कर्मकी जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है। यह स्थिति सूक्ष्म साम्पराय नामके दसवें गुण स्थानमें ही बंधती है॥ १८॥

अब नाम और गोत्रकी जघन्य स्थिति कहते हैं—

नामगोत्रयोरष्टौ ॥ १९ ॥

अर्थ—नाम और गोत्र कर्मकी जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है। यह भी सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें ही बंधती है॥ १९॥

अब शेष पांच कर्मोंकी जघन्य स्थिति कहते हैं—

शेषाणामन्तर्मुहूर्ता॥ २० ॥

अर्थ–ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, आयु और अन्तराय कर्मकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। इनमेंसे मोहनीयकी जघन्य स्थिति नौवे गुणस्थानमें ही बंधती है। आयुकी जघन्य स्थिति संख्यात वर्षकी आयुवाले कर्मभूमियां मनुष्य और तिर्यञ्चोंके बंधती है। और शेष तीन कर्मोंकी जघन्य स्थिति सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें बंधती है॥ २०॥

इस तरह स्थिति बन्धको कहकर अब अनुभव बन्धको कहते हैं–

विपाकोऽनुभवः ॥ २१ ॥

अर्थ–विशिष्ट अथवा नाना प्रकारके पाक यानी उदयको विपाक कहते हैं। और विपाकको ही अनुभव कहते हैं।

विशेषार्थ–छठे अध्यायमें बतलाया है कि कषायकी तीव्रता या मन्दताके होनेसे कर्मके आस्रवमें विशेषता होती है। और उसकी विशेषतासे कर्मके उदयमें अन्तर पड़ता है। अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भवके निमित्तसे भी कर्मके फल देनेमें विविधता होती है। अतः कर्म जो अनेक प्रकारका फल देता है उस फल देनेका नाम ही अनुभव वा अनुभाग है। शुभ परिणामोंकी अधिकता होनेसे शुभ प्रकृतियोंमें अधिक रस पड़ता है और अशुभ प्रकृतियोंमें मन्द रस पड़ता है। तथा अशुभ परिणामोंकी अधिकता होनेसे अशुभ प्रकृतियोंमें अधिक रस पड़ता है और शुभ प्रकृतियोंमें मन्द रस पड़ता है। इस तरह परिणामोंकी विचित्रतासे अनुभाग बन्धमें भी अन्तर पड़ता है। कर्मोंका यह अनुभाग दो रूपसे होता है एक स्वमुखसे और दूसरे परमुखसे। आठों मूल कर्मोंका अनुभाग स्वमुखसे ही होता है। अर्थात् प्रत्येक कर्म अपने रूपमें ही अपना फल देता है, एक मूल कर्म दूसरे मूल कर्मरूप होकर फल नहीं देता। किन्तु आठों मूलकर्मोंकी जो उत्तर प्रकृतियाँ

हैं उनमें जो प्रकृतियाँ एक जातिकी हैं वे आपसमें अदल-बदलकर भी फल देती हैं। जैसे, असातावेदनीय सातावेदनीय रूपसे भी फल दे सकता है। मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरण रूपसे उदयमें आता है। इसको परमुखसे फल देना कहते हैं। परन्तु कुछ उत्तर-प्रकृतियाँ भी ऐसी हैं जो स्वमुखसे ही अपना फल देती है। जैसे, दर्शन मोहनीय चारित्र मोहनीय रूपसे फल नहीं देता और न चारित्र मोहनीय दर्शन मोहनीय रूपसे फल देता है। इसी तरह चारों आयु भी अपने रूप ही फल देती हैं, परस्परमें अदल-बदल कर फल नहीं देतीं। अर्थात् किसीने नरकायुका बन्ध किया हो और उसका फल मनुष्यायु या तिर्यञ्चायुके रूपमें मिले, यह सम्भव नहीं है। उसे नरकमें ही जाना होगा॥ २१॥

आगे इसी बातको कहते हैं—

स यथानाम ॥ २२ ॥

अर्थ—कर्मका जैसा नाम है वैसा ही उसका फल है। जैसे, ज्ञानावरणका फल ज्ञान शक्तिको ढांकना है, दर्शनावरणका फल दर्शन शक्तिको ढांकना है। इसी तरह सभी कर्मों और उनके भेदोंका नाम सार्थक है और नामके अनुसार ही उनका फल भी होता है॥ २२॥

अब यह बतलाते हैं कि जो कर्म उदयमें आकर अपना तीव्र या मन्द फल देता है फल देनेके बाद भी वह कर्म आत्मासे चिपटा रहता है या छूट जाता है—

ततश्च निर्जरा ॥ २३ ॥

अर्थ—फल दे चुकनेपर कर्मकी निर्जरा हो जाती है; क्योंकि स्थिति पूरी हो चुकनेपर कर्म आत्माके साथ एक क्षण भी चिपटा

नहीं रह सकता। आत्मासे छूटकर वह किसी और रूपसे परिणमन कर जाता है। इसीका नाम निर्जरा है।

विशेषार्थ–निर्जरा दो प्रकारकी होती है–सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा। क्रमसे उदय काल आनेपर कर्मका अपना फल देकर झड़ जाना सविपाक निर्जरा है। और जिस कर्मका उदय काल तो नहीं आया, किन्तु तपस्या वगैरहके द्वारा जबरदस्तीसे उसे उदयमें लाकर जो खिराया जाता है वह अविपाक निर्जरा है। जैसे, आम पेड़पर लगा लगा जब स्वयं ही पककर टपक जाता है तो वह सविपाक है। और उसे पेड़से तोड़कर पालमें दबाकर जो जल्दी पका लिया जाता है वह अविपाक है॥ २३॥

अब प्रदेशबन्धको कहते हैं–

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः॥ २४॥

अर्थ–इस सूत्रमें प्रदेश बन्धका स्वरूप बतलाते हुए बंधने वाले कर्म प्रदेशोंके बारेमें इतनी बातें बतलाई हैं–वे कर्म प्रदेश किसके कारण हैं? कब बंधते हैं? कैसे बंधते हैं? उनका स्वभाव कैसा है? बंधनेपर वे रहते कहाँ हैं? और उनका परिमाण कितना होता है? प्रत्येक प्रश्नका उत्तर इस प्रकार दिया है–वे कर्म प्रदेश ज्ञानावरण आदि सभी कर्म प्रकृतियोंके कारण हैं। अर्थात् जैसे ही वे बंधते हैं वैसे ही आयुको छोड़कर शेष सात कर्म रूप हो जाते हैं और यदि उस समय आयु कर्मका भी बंध होता है तो आठों कर्म रूप हो जाते हैं। दूसरा प्रश्न है कि कब बंधते हैं? इसको उत्तर है कि सब भवोंमें बंधते हैं। ऐसा कोई भव नहीं, और एक भवमें ऐसा कोई क्षण नहीं जब कर्मबन्ध न होता हो? तीसरा प्रश्न है कि कैसे बंधते हैं? उसका उत्तर है–योग विशेषके

निमित्तसे बंधते हैं। योगका वर्णन छठे अध्यायमें हो चुका है वही कर्मोंके बन्धमें निमित्त है। चौथा प्रश्न है कि उनका स्वभाव कैसा है? उसका उत्तर है कि वे सूक्ष्म होते हैं–स्थूल नहीं होते, तथा जिस आकाश प्रदेशमें आत्म प्रदेश रहते हैं उसी आकाश प्रदेशमें कर्म योग्य पुद्गल भी ठहर जाते हैं। पाँचवा प्रश्न है कि वे किस आधारसे रहते हैं? इसका उत्तर है कि कर्म प्रदेश आत्माके किसी एक ही भागमें आकर नहीं रहते। किन्तु आत्माके समस्त प्रदेशोंमें ऐसे घुल मिल जाते हैं जैसे दूधमें पानी। पाँचवा प्रश्न है कि उनका परिणाम कितना होता है तो उत्तर है कि अनन्तानन्त परमाणु प्रति समय बंधते रहते हैं। सारांश यह है कि एक आत्माके असंख्यात प्रदेश होते हैं। प्रत्येक प्रदेशमें प्रति समय अनन्तानन्त प्रदेशी पुद्गल स्कन्ध बन्ध रूप होते रहते हैं। यही प्रदेश बन्ध है ॥ २४ ॥

अब कर्मोंकी पुण्य प्रकृतियोंको बतलाते हैं—

सद्वेद्य-शुभायुर्नाम-गोत्राणि पुण्यम् ॥ २५ ॥

अर्थ–सातावेदनीय, तिर्यगायु, मनुष्यायु और देवायु ये तीन आयु, एक उच्चगोत्र और नाम कर्मकी सैंतीस प्रकृतियाँ ये बयालीस पुण्य प्रकृतियाँ हैं। नाम कर्मकी सैंतीस प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं—मनुष्य गति, देवगति, पञ्चेन्द्रिय जाति, पाँच शरीर, तीन अंगोपांग, समचतुरस्रसंस्थान, वज्र वृषभनाराच संहनन, प्रशस्त वर्ण गन्ध रस और स्पर्श, मनुष्य गत्यानुपूर्वी, देव गत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, निर्माण और तीर्थङ्कर। ये सब पुण्य प्रकृतियाँ हैं ॥ २५ ॥

अब पाप प्रकृतियोंको कहते हैं—

अतोन्यत् पापम् ॥ २६ ॥

अर्थ—इन पुण्य कर्म प्रकृतियोंके सिवा शेष कर्मप्रकृतियाँ पाप प्रकृतियाँ हैं। सो ज्ञानावरणको पांच, दर्शनावरणकी नौ, मोहनीयकी छब्बीस, अन्तरायकी पांच, ये घातिया कर्मोंकी प्रकृतियाँ पाप प्रकृतियां हैं। नरक गति, तिर्यञ्च गति, एकेन्द्रिय आदि चार जातियाँ, पाँच संस्थान, पाँच संहनन, अप्रशस्त वर्ण गन्ध रस स्पर्श, नरक गत्यानुपूर्व्य, तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण शरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति ये नामकर्मकी चौंतीस प्रकृतियाँ, असाता वेदनीय, नरकायु और नीच गोत्र। इस तरह बयासी प्रकृतियाँ पाप प्रकृतियाँ हैं।

विशेषार्थ—घातिया कर्म तो चारों अशुभ ही हैं और अघातिया कर्मोंकी प्रकृतियां पुण्यरूप भी हैं और पापरूप भी हैं। उनमें भी स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण पुण्यरूप भी हैं और पापरूप भी हैं। इसलिए उनकी गणना पुण्य प्रकृतियोंमें भी की जाती है और पाप प्रकृतियोंमें भी की जाती है। इससे ऊपर गिनाई गयी पुण्य और पाप प्रकृतियोंका जोड़ ८२-४२=१२४ होता है। किन्तु बन्ध प्रकृतियां १२० ही हैं। जब कि आठों कर्मोंकी कुल प्रकृतियां ५+९+२+२८+४+९३+२+५=१४८ हैं। इनमें पांच बन्धन और पांच संघात तो शरीरके साथी हैं—अर्थात् यदि औदारिक शरीरका बन्ध होगा तो औदारिक बन्धन और औदारिक संघातका अवश्य बन्ध होगा। इसलिए बन्ध प्रकृतियोंमें पांच शरीरोंका ही ग्रहण किया है। अतः पांच बन्धन और पांच संघात

ये १० प्रकृतियां कम हुईं। और वर्ण गन्ध आदिके बीस भेदोंमें से केवल वर्ण गन्ध रस और स्पर्श इन चारको ही ग्रहण किया है, इससे १६ प्रकृतियां ये कम हुईं। तथा दर्शनमोहनीयकी तीन प्रकृतियोंमें से केवल एक मिथ्यात्वका ही वन्ध होता है। अतः दो ये कम हुईं। इस तरह अठाईस प्रकृतियोंके कम होनेसे वन्ध योग्य प्रकृतियां १२० ही रहती हैं। इस तरह वन्धका वर्णन समाप्त हुआ ॥ २६ ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥



अथ नवमोऽध्यायः

अब बन्ध तत्त्वका वर्णन करनेके बाद बन्धके विनाशके लिए संवरतत्त्वका वर्णन करते हैं। प्रथम ही संवरका लक्षण कहते हैं—

आस्रवनिरोधः संवरः ॥ १ ॥

अर्थ—नये कर्मोंके आनेमें जो कारण है उसे आस्रव कहते हैं। और आस्रवके रोकनेको संवर कहते हैं। संवरके दो भेद हैं- भाव संवर और द्रव्य संवर। जो क्रियाएँ संसारमें भटकनेमें हेतु हैं उन क्रियाओंका अभाव होना भाव संवर है और उन क्रियाओंका अभाव होनेपर क्रियाओंके निमित्तसे जो कर्म पुद्गलोंका आगमन होता था उनका रुकना द्रव्य संवर है ॥ १ ॥

अब संवरके कारण बतलाते हैं—

स गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षा-परिषहजय-चारित्रैः ॥ २ ॥

अर्थ—वह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्रसे होता है। संसारके कारणोंसे आत्माकी रक्षा करना गुप्ति है। प्राणियोंको कष्ट न पहुँचे इस भावनासे यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करना समिति है। जो जीवको उसके इष्ट स्थानमें धरता है वह धर्म है। संसार शरीर वगैरहका स्वरूप बार-बार विचारना अनुप्रेक्षा है। भूख प्यास वगैरहका कष्ट होनेपर उस कष्टको शान्ति पूर्वक सहन करना परिषहजय है। संसार भ्रमणसे बचनेके लिए, जिन क्रियाओंसे कर्मबन्ध होता है उन क्रियाओंको छोड़ देना चारित्र है।

विशेषार्थ—संवरका प्रकरण होते हुए भी जो इस सूत्रमें संवरका ग्रहण करनेके लिए 'स' शब्द दिया है वह यह बतलाता है

कि संवर गुप्ति वगैरहसे ही हो सकता है, किसी दूसरे उपायसे नहीं हो सकता; क्योंकि जो कर्म राग द्वेष या मोहके निमित्तसे बंधता है वह उनको दूर किये विना नहीं रुक सकता ॥ २ ॥

अब संवरका प्रमुख कारण बतलाते हैं—

तपसा निर्जरा च ॥ ३ ॥

अर्थ—तपसे संवर भी होता है और निर्जरा भी होती है।

विशेषार्थ—यद्यपि दस धर्मोंमें तप आ जाता है फिर भी तपका अलगसे ग्रहण यह बतलानेके लिए किया है कि तपसे नवीन कर्मोंका आना रुकता है और पहले बन्धे हुए कर्मोंकी निर्जरा भी होती है। तथा तप संवरका प्रधान कारण है। यद्यपि तपको सांसारिक अभ्युदयका भी कारण बतलाया है किन्तु तपका प्रधान फल तो कर्मोंका क्षय होना है और गौणफल सांसारिक अभ्युदयकी प्राप्ति है। अतः तप अनेक काम करता है ॥ ३ ॥

अब गुप्तिका लक्षण कहते हैं—

सम्यग्योग-निग्रहो गुप्तिः ॥ ४ ॥

अर्थ—योग अर्थात् मन वचन और कायकी स्वेच्छा चारिताको रोकना गुप्ति है। लौकिक प्रतिष्ठा अथवा विषय सुखकी इच्छासे मन बचन और कायको प्रकृतिको रोकना गुप्ति नहीं है यह बतलानेके लिये ही सूत्रमें 'सम्यक्' पद दिया है। अतः जिससे परिणामोंमें किसी तरहका संक्लेश पैदा न हो इस रीतिसे मन वचन और कायको स्वेच्छाचारिताको रोकनेसे उसके निमित्तसे होनेवाला कर्मोंका आस्रव नहीं होता। उस गुप्तिके तीन भेद हैं— कायगुप्ति, वचनगुप्ति और मनोगुप्ति ॥ ४ ॥

यद्यपि गुप्तिका पालक मुनि मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिको रोकता है किन्तु आहारके लिये, विहारके लिये और शौच आदिके

लिये उसे प्रवृत्ति अवश्य करनी पड़ती है। अतः प्रवृत्ति करते हुए भी जिससे आस्रव नहीं हो ऐसा उपाय बतलानेके लिये समितिको कहते हैं–

ईर्या-भाषैषणादान-निक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥ ५ ॥

अर्थ–ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेप और उत्सर्ग ये पाँच समितियाँ हैं। यहाँ पूर्वसूत्रसे 'सम्यक्' पदकी अनुवृत्ति होती है अतः पाँचोंमें सम्यक् पद लगालेना चाहिये। अर्थात् सम्यक् ईर्या, सम्यक् एषणा, सम्यक् आदान निक्षेप, और सम्यक् उत्सर्ग। सूर्यका उदय हो जानेपर जब प्रकाश इतना फैल जाये कि आँखोंसे प्रत्येक वस्तु साफ दिखायी देने लगे, उस समय मनुष्योंके पद संचारसे जो मार्ग प्रासुक हो उस मार्गपर चार हाथ जमीन आगे देखते हुए, सब ओरसे मनको रोक कर धीरे-धीरे गमन करना ईर्या समिति है। हित-मित और सन्देह रहित वचन बोलना भाषा समिति है। अर्थात् मिथ्या वचन, निन्दापरक वचन, अप्रिय वचन, कषायके वचन, भेद डालनेवाले वचन, निस्सार अथवा अल्प सारवाले वचन, सन्देहसे भरे हुए वचन, भ्रम पैदा करनेवाले वचन, हास्य वचन, अयुक्त वचन, असभ्य वचन, कठोर वचन, अधर्मपरक वचन और अति प्रशंसा परक वचन साधुको नहीं बोलना चाहिये। दिनमें एक बार श्रावकके घर जा कर नवधाभक्ति पूर्वक तथा कृत, कारित, अनुमोदना आदि दोषोंसे रहित दिया हुआ निर्दोष आहार खड़े हो कर अपने पाणि-पात्रमें ही ग्रहण करना एषणा समिति है। शास्त्र कमण्डलु आदि धर्मके उपकरणोंको देख भाल कर तथा पीछीसे साफ करके रखना उठाना आदान निक्षेपण समिति है। त्रस और स्थावर जीवोंको जिससे बाधा न पहुँचे इस तरहसे शुद्ध जन्तु रहित भूमिमें मल

मूत्र आदि करना उत्सर्ग समिति है। इस तरह ये पांचों समितियां संवरकी कारण हैं।

शङ्का-ये समितियां तो वचन गुप्ति और कायगुप्तिके ही अन्तर्भूत हैं, इन्हें अलग क्यों कहा ?

समाधान-कालका प्रमाण करके समस्त योगोंका निग्रह करना तो गुप्ति है। और जो अधिक समय तक गुप्तिका पालन करनेमें असमर्थ हैं उनका शुभ क्रियाओंमें सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करना समिति है। यही दोनोंमें भेद है॥ ५॥

अब दस धर्मोंको कहते है-

उत्तमक्षमा-मार्दवार्जव-शौच-सत्य-संयम-तपस्त्यागा-किंचन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्मः॥ ६॥

अर्थ-उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य, ये दस धर्मके भेद हैं। क्रोधकी उत्पत्तिके निमित्त होते हुए भी परिणामोंमें मलिनता न होना क्षमा है। उत्तम जाति, कुल, रूप, विज्ञान, ऐश्वर्य वगैरहके होते हुए भी उनका घमण्ड नहीं करना मार्दव है। मन, वचन और कायकी कुटिलताका न होना आर्जव है। लोभका अत्यन्त अभाव शौच है। लोभ चार प्रकारका होता है-जीवनका लोभ, नीरोगताका लोभ, इन्द्रियोंका लोभ और भोग्य सामग्रीका लोभ। इन चारों ही लोभोंका अभाव होना शौच धर्म है। सज्जन पुरुषोंके बीचमें सुन्दर वचन बोलना सत्य धर्म है।

शङ्का-सत्य धर्म और भाषा समितिमें क्या अन्तर है ?

समाधान-संयमी मनुष्य साधुजनोंसे या असाधुजनोंसे बातचीत करते समय हित मित ही बोलता है अन्यथा यदि बहुत

बातचीत करे तो राग और अनर्थ दण्ड आदि दोषोंका भागी होता है। यह भाषा समिति है। किंतु सत्य धर्ममें संयमी जनोंको अथवा श्रावकोंको ज्ञान चारित्र आदिकी शिक्षा देनेके उद्देश्यसे अधिक बोलना भी बुरा नहीं है।

ईर्या समिति वगैरहका पालन करते समय एकेन्द्रिय आदि जीवोंको पीड़ा न पहुंचाना प्राणि संयम है और इन्द्रियोंके विषयोंमें रागका न होना इन्द्रिय संयम है। इस तरह संयम दो प्रकारका है। कर्मोंका क्षय करनेके लिये अनशन आदि करना तप है। चेतन और अचेतन परिग्रहको छोड़ना त्याग है। शरीर वगैरहसे भी ममत्व न करना आकिंचन्य है। पहले भोगी हुई स्त्रीको स्मरण न करके तथा स्त्रीमात्रकी कथाके सुननेसे विरत होकर स्त्रीसे संयुक्त शय्या आसनपर भी न बैठना और अपनी आत्मामें ही लीन रहना ब्रह्मचर्य है। ये दस धर्म संवरके कारण हैं। इनके पहले जो उत्तम विशेषण लगाया है वह यह बतलानेके लिये लगाया है कि किसी लौकिक प्रयोजनकी सिद्धिके लिये क्षमा आदिको अपनाना उत्तम क्षमा नहीं है ॥ ६ ॥

इसके बाद बारह अनुप्रेक्षाओंको कहते हैं—

अनित्याशरण-संसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रव-संवर-निर्जरा-लोक-बोधिदुर्लभ-धर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिन्तन-मनुप्रेक्षाः ॥ ७ ॥

अर्थ—अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि-दुर्लभ, धर्मस्वाख्यात इन बारहोंके स्वरूपको बार बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। इन्द्रियोंके विषय, धन, यौवन, जीवन वगैरह जलके बुलबुलेके समान क्षण-भंगुर हैं ऐसा विचारना अनित्यानुप्रेक्षा है। ऐसा विचारते

रहनेसे इनका वियोग होनेपर भी दुःख नहीं होता ॥१॥ इस संसारमें कोई शरण नहीं है। पाल पोष कर पुष्ट हुआ शरीर भी कष्टमें साथ नहीं देता, बल्कि उल्टा कष्टका ही कारण होता है। बन्धु बान्धव भी मृत्युसे नहीं बचा सकते। इस प्रकारका विचार करना अशरणानुप्रेक्षा है ॥२॥ संसारके स्वभावका विचार करना संसारानुपेक्षा है ॥३॥ संसारमें मैं अनादि कालसे अकेला ही घूमता हूँ। न कोई मेरा अपना है और न कोई पराया। धर्म ही एक मेरा सहायक है। ऐसा विचारना एकत्वानुप्रेक्षा है ॥४॥ शरीर वगैरहसे अपनेको भिन्न विचारना अन्यत्वानुप्रेक्षा है ॥५॥ शरीरकी अपवित्रताका विचार करना अशुचित्वानुप्रेक्षा है ॥६॥ आस्रवके दोषोंका विचार करना आस्रवानुप्रेक्षा है ॥७॥ संवरके गुणोंका विचार करना संवरानुप्रेक्षा है ॥८॥ निर्जराके गुण दोषोंका विचार करना निर्जरानुप्रेक्षा है ॥९॥ लोकके आकार वगैरहका विचार करना लोकानुप्रेक्षा है। इसका विचार करनेसे ज्ञानकी विशुद्धि होती है ॥१०॥ ज्ञानकी प्राप्ति बहुत दुर्लभ है अतः ज्ञानको पा कर विषय सुखमें नहीं डूबना चाहिये इत्यादि विचारना बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा है ॥११॥ अर्हन्त भगवान्के द्वारा कहा गया धर्म मोक्षकी प्राप्तिका कारण है, इत्यादि विचार करना धर्मानुप्रेक्षा है ॥१२॥ इन बारह अनुप्रेक्षाओंकी भावना करनेसे मनुष्य उत्तम क्षमा आदि दश धर्मोंको भी अच्छी रीतिसे पालता है और आगे कही जाने वाली परिषहोंको भी जीतनेका उत्साह करता है। इसीसे अनुप्रेक्षाओंको धर्म और परिषहोंके बीचमें रखा है ॥७॥

परिषह क्यों सहना चाहिये? यह प्रश्न होनेपर परिषहोंको सहनेका उद्देश्य बतलाते हैं—

मार्गाच्यवन-निर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः ॥८॥

अर्थ—संवरके मार्गसे च्युत न होनेके लिए तथा कर्मोंको

निर्जराके लिए परिषहोंको सहना चाहिये। अर्थात् जो स्वेच्छासे भूख प्यास वगैरहकी परीषहको सहते हैं उनके ऊपर जब कोई उपसर्ग आता है तो कष्ट सहन करनेका अभ्यास होनेसे वे उन उपसर्गोंसे घबरा कर अपने मार्गसे डिगते नहीं हैं। और इनके सहन करनेसे कर्मोंकी निर्जरा भी होती है। अतः विपत्तिके समय मनको स्थिर रखनेके लिए परीषहोंको सहना ही उचित है ॥ ८ ॥

उद्देश्य बतलाकर परीषहोंके स्वरूपको कहते हैं—

क्षुत्पिपासा-शीतोष्ण-दंशमशक-नाग्न्यारति-स्त्री-चर्या-निषद्या-शय्याक्रोश-वध-याचनाऽलाभ-रोग-तृणस्पर्श-मल-सत्कार पुरस्कार-प्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ॥ ९ ॥

अर्थ—क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंश-मशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन ये बाईस परीषह हैं। मोक्षार्थीको इन्हें सहना चाहिये। अत्यन्त भूखकी पीड़ा होने पर धैर्यके साथ उसे सहना क्षुधा परीषहका जय है ॥१॥ पियासकी कठोर वेदना होते हुए भी पियासके वशमें नहीं होना पिपासा परीषह जय है ॥२॥ शीतसे पीड़ित होते हुए भी शीतका प्रतीकार करनेकी भावना भी मनमें न होना शीत परीषह जय है ॥ ३ ॥ ग्रीष्मऋतु आदिके कारण गर्मीका घोर कष्ट होते हुए भी उससे विचलित न होना उष्ण परीषह जय है ॥ ४ ॥ डांस, मच्छर, मक्खी, पिस्सु वगैरहके काटने पर भी परिणामोंमें विषादका न होना दंश मशक परीषह जय है ॥५॥ माताके गर्भसे उत्पन्न हुए बालककी तरह निर्विकार नग्न रूप धारण करना नग्न परीषह जय है ॥६॥ अरति उत्पन्न होनेके अनेक कारण होते हुए भी संयममें अत्यन्त प्रेम होना अरति परीषह जय है ॥७॥ स्त्रियोंके द्वारा बाधा

पहुंचायी जाने पर भी उनके रूपको देखनेकी अथवा उनका आलिंगन करनेकी भावनाका भी न होना स्त्री परीषह जय है। ८। पवनकी तरह एकाकी विहार करते हुए भयानक वनमें भी सिंहकी तरह निर्भय रहना और नंगे पैरोंमें कंकर पत्थर चुभनेपर भी खेद खिन्न न होना चर्या परीषह जय है। ९। जिस आसनसे बैठे हों उससे विचलित न होना निषद्या परीषह जय है। १०। रात्रिमें ऊँची नीची कठोर भूमि पर पूरा बदन सीधा रखकर एक करवटसे सोना शय्या परीषह जय है। ११। अत्यन्त कठोर बचनोंको सुन कर भी शान्त रहना आक्रोश परीषह जय है। १२। जैसे चन्दनको जलाने पर भी वह सुगन्ध ही देता है वैसे ही अपनेको मारने पीटने वालोंपर भी क्रोध न करके उनका भला ही विचारना वध परीषह जय है। १३। आहार वगैरहके न मिलनेसे भले ही प्राण चले जांय किन्तु किसीसे याचना करना तो दूर, मुँहपर, दीनता भी न लाना याचना परीषह जय है। १४। आहारादिका लाभ न होने पर भी वैसा ही सन्तुष्ट रहना जैसा लाभ होनेपर यह अलाभ परीषह जय है। १५। शरीरमें अनेक व्याधियां होते हुए भी उनकी चिकित्साका विचार भी न करना रोग परीषह जय है। १६। तृण कांटे वगैरहको वेदनाको सहना तृण स्पर्श परीषह जय है। १७। अपने शरीरमें लगे हुए मलकी ओर लक्ष्य न देकर आत्म-भावनामें ही लीन रहना मल परीषह जय है। १८ सन्मान और अपमानमें समभाव रखना और आदर सत्कार न होनेपर खेदखिन्न न होना, सत्कार पुरस्कार जय है॥ १९॥ अपने पाण्डित्यका गर्व न होना प्रज्ञा परीषह जय है। २०। यदि कोई तिरस्कार करे, तू अज्ञानी है, कुछ जानता नहीं है—तो उससे खिन्न न हो कर ज्ञानकी प्राप्तिका ही बराबर प्रयत्न करते रहना अज्ञान परीषह जय है।२१। श्रद्धानसे च्युत होनेके निमित्त उपस्थित होनेपर भी मुनि मार्गमें बराबर आस्था बनाये रखना अदर्शन परीषह जय

है ।२२। इस तरह इन बाईस परीषहोंको संक्लेश रहित चित्तसे सहन करनेसे महान् संवर होता है ॥ ९ ॥

किस गुणस्थानमें कितनी परिषह होती हैं यह बतलाते हैं–

सूक्ष्मसाम्पराय-वीतरागछद्मस्थयोश्चतुर्दश ॥ १० ॥

अर्थ–सूक्ष्मसाम्पराय नामके दसवें गुणस्थानमें और छद्मस्थ-वीतराग यानी ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दशंमशक, चर्या, शय्या, बध, अलाभ, रोग, तृण स्पर्श, मल, प्रज्ञा और अज्ञान ये चौदह परीषह होती हैं। मोहनीय कर्मके उदयसे होनेवाली आठ परिषह नहीं होती, क्योंकि ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें मोहनीय कर्मका उदय ही नहीं है। दसवेंमें केवल लोभ संज्वलन कषायका उदय है। वह भी अत्यन्त सूक्ष्म है अतः दसवाँ गुणस्थान भी वीतराग छद्मस्थके ही तुल्य है। इसलिए उसमें भी मोहजन्य आठ परीषह नहीं होतीं ॥ १० ॥

एकादश जिने ॥ ११ ॥

अर्थ–चार घातिया कर्मोंसे रहित जिन भगवान्में वेदनीय कर्मका सद्भाव होनेसे ग्यारह परीषह होती हैं।

शङ्का–यदि केवली भगवान्में ग्यारह परीषह होती हैं तो उन्हें भूख प्यासकी बाधा भी होनी चाहिये।

समाधान–मोहनीय कर्मका उदय न होनेसे वेदनीय कर्ममें भूख प्यासकी वेदनाको उत्पन्न करनेकी शक्ति नहीं रहती। जैसे, मन्त्र और औषधिके बलसे जिसकी मारनेकी शक्ति नष्ट कर दी जाती है उस विषको खानेसे मरण नहीं होता है, वैसे ही घातिया कर्मोंके नष्ट हो जानेसे अनन्त चतुष्टयसे युक्त केवली भगवानके

अन्तराय कर्मका भी अभाव हो जाता है और लगातार शुभ नोकर्म वर्गणाओंका संचय होता रहता है। इन कारणोंसे निःसहाय वेदनीय कर्म अपना काम नहीं कर सकता। इसीसे केवलीके भूख प्यासकी वेदना नहीं होती। फिर भी उनके वेदनीयका उदय है अतः ग्यारह परीषह उपचारसे कही हैं]॥ ११ ॥

अन्य गुणस्थानोंमें परीषह कहते हैं–

बादरसाम्पराये सर्वे ॥ १२ ॥

अर्थ–बादर साम्पराय अर्थात् छठेसे लेकर नौवें गुणस्थान तक सब परीषह होती हैं।

विशेषार्थ–यद्यपि नौवें गुणस्थानका नाम बादर साम्पराय है। किन्तु यहां बादर साम्परायसे नौवां गुणस्थान न लेकर 'बादर साम्पराय' शब्दका अर्थ लेना चाहिये। अर्थात् बादर यानी स्थूल, और साम्पराय यानी कषाय जिनमें पायी जाती है ऐसे गुणस्थान छठेसे नौ तक हैं। उनमें कषायका उदय होनेसे सभी परीषह होती हैं॥ १२ ॥

किस कर्मके उदयसे कौन परीषह होती है यह भी बतलाते हैं–

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥ १३ ॥

अर्थ–ज्ञानावरणके होनेपर प्रज्ञा और अज्ञान परीषह होती हैं।

[शङ्का–ज्ञानावरणका उदय होनेपर अज्ञान परीषहका होना तो ठीक है परन्तु प्रज्ञा तो ज्ञानावरणके चले जानेपर होती है; क्योंकि प्रज्ञाका अर्थ है ज्ञान, और ज्ञान आत्माका स्वभाव है?

समाधान–प्रज्ञा परीषहका अर्थ है ज्ञानका मद हो तो उसे न होने देना। सो मद ज्ञानावरणके उदयमें ही होता है; जिनके

समस्त ज्ञानावरण नष्ट हो जाता है उनके ज्ञानका मद नहीं होता। अतः प्रज्ञा परीषह ज्ञानावरणके उदयमें ही होती है]॥ १३॥

दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ॥ १४ ॥

अर्थ-दर्शन मोहके होनेपर अदर्शन परीषह होती है और अन्तराय कर्मके उदयसे अलाभ परीषह होती है ॥ १४ ॥

चारित्रमोहे नाग्न्यारति-स्त्री-निषद्याक्रोश-याचना-सत्कार पुरस्काराः ॥ १५ ॥

अर्थ-चारित्र मोहनीयके उदयमें नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, और सत्कार-पुरस्कार ये सात परीषह होती हैं ॥ १५ ॥

वेदनीये शेषाः ॥ १६ ॥

अर्थ-शेष ग्यारह परीषह अर्थात् क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृण स्पर्श और मल परीषह वेदनीय कर्मके उदयमें होती हैं ॥ १६ ॥

एक व्यक्तिमें एक साथ कितनी परीषह हो सकती हैं यह बतलाते हैं—

एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतेः ॥ १७ ॥

अर्थ-एक जीवके एक साथ एकसे ले कर उन्नीस परीषह तक हो सकती हैं; क्योंकि शीत और उष्णमें से एक समयमें एक ही होगी। तथा चर्या, शय्या और निषद्यामें से एक ही होगी। अतः तीनके कम हो जानेसे शेष उन्नीस परीषह एक साथ एक व्यक्तिमें हो सकती हैं ॥ १७ ॥

अब चारित्रके भेद कहते हैं—

सामायिक-छेदोपस्थापना-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसाम्पराय-यथाख्यातमिति चारित्रम् ॥ १८ ॥

अर्थ—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म साम्पराय और यथाख्यात, इस तरह पांच प्रकारका चारित्र है। समस्त सावद्य योगका एक रूपसे त्याग करना सामायिक चारित्र है। सामायिक चारित्रसे डिगनेपर प्रायश्चित्तके द्वारा सावद्य व्यापारमें लगे हुए दोषोंको छेद कर पुनः संयम धारण करना छेदोपस्थापना चारित्र है। अथवा समस्त सावद्य योगका भेद रूपसे त्याग करना छेदोपस्थापना चारित्र है। अर्थात् मैंने समस्त पाप कार्योंका त्याग किया; यह सामायिक चारित्रका रूप है और मैंने हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहका त्याग किया, यह छेदोपस्थापना चारित्रका रूप है। जिस चारित्रमें प्राणी हिंसाकी पूर्ण निवृत्ति होनेसे विशिष्ट विशुद्धि पायी जाती है उसे परिहारविशुद्धि कहते हैं। जिसने अपने जन्मसे तीस वर्षकी अवस्था तक सुख पूर्वक जीवन विताया हो, और फिर जिन दीक्षा लेकर आठ वर्ष तक तीर्थङ्करके निकट प्रत्याख्यान नामके नौवें पूर्वको पढ़ा हो और तीनों सन्ध्या कालोंको छोड़ कर दो कोस विहार करनेका जिसके नियम हो, उस दुर्द्धर चर्याके पालक महामुनिको ही परिहारविशुद्धि चारित्र होता है। इस चारित्रवालेके शरीरसे जीवोंका घात नहीं होता इसीसे इसका नाम परिहारविशुद्धि है। अत्यन्त सूक्ष्म कषायके होनेसे सूक्ष्म साम्पराय नामके दसवें गुणस्थानमें जो चारित्र होता है उसे सूक्ष्म साम्परायचारित्र कहते हैं। समस्त मोहनीय कर्मके उपशमसे अथवा क्षयसे जैसा आत्माका निर्विकार स्वभाव है वैसा ही स्वभाव हो जाना यथाख्यात चारित्र है। इस चारित्रको अथाख्यात भी कहते हैं क्योंकि अथ शब्दका अर्थ अनन्तर है और यह समस्त मोहनीयके क्षय अथवा उपशम होनेके अन्तर ही होता है। तथा

इसे तथाख्यात भी कहते हैं; क्योंकि जैसा आत्माका स्वभाव है वैसा ही इस चारित्रका स्वरूप है। सूत्रमें जो यथाख्यातके बाद इति शब्द है वह यह बतलाता है कि यथाख्यात चारित्रसे सकल कर्मोंके क्षयकी पूर्ति हो जाती है ॥ १८ ॥

आगे तपका कथन करते हैं। तपके दो भेद हैं—बाह्य तप और अभ्यन्तर तप। इनमेंसे भी प्रत्येकके छै भेद हैं। पहले बाह्य तपके छै भेद कहते हैं—

अनशनावमौदर्य-वृत्तिपरिसंख्यान-रसपरित्याग-विविक्त-शय्यासन-कायक्लेशा बाह्यं तपः ॥ १९ ॥

अर्थ—अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन, कायक्लेश, ये छै बाह्य तपके भेद हैं। ख्याति, पूजा, मन्त्र सिद्धि, वगैरह लौकिक फलकी अपेक्षा न करके, संयम-की सिद्धि, रागका उच्छेद, कर्मोंका विनाश, ध्यान तथा स्वाध्याय की सिद्धिके लिए भोजनका त्याग करना अनशन तप है। संयमको जागृत रखनेके लिए, विकारोंकी शान्तिके लिए, संतोष और स्वाध्याय आदिकी सुख पूर्वक सिद्धिके लिए अल्प आहार करना अवमौदर्य तप है। जब मुनि भिक्षाके लिए निकलें तो घरोंका नियम करना कि मैं आहारके लिए इतने घर जाऊंगा अथवा अमुक रीतिसे आहार मिलेगा तो लूंगा, इसे वृत्तिपरिसंख्यान तप कहते हैं। यह तप भोजनकी आशाको रोकनेके लिए किया जाता है। इन्द्रियोंके दमनके लिए, निन्द्रापर विजय पानेके लिए तथा सुख पूर्वक स्वाध्याय करनेके लिए घी, दूध, दही, तेल, मीठा और नमकका यथायोग्य त्याग करना रस परित्याग तप है। ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, ध्यान आदि की सिद्धिके लिए एकान्त स्थानमें शयन करना तथा आसन लगाना विविक्त शय्यासन तप है। कष्ट सहनेके अभ्यासके लिए, आराम तलबीकी भावनाको दूर करनेके लिए, और धर्मकी प्रभावनाके

लिए ग्रीष्म ऋतुमें वृक्षके नीचे ध्यान लगाना, शीत ऋतुमें खुले हुए मैदानमें सोना, अनेक प्रकारके आसन लगाना आदि कायक्लेश तप है। बाह्य द्रव्य खान पान आदिकी अपेक्षासे ये तप किये जाते हैं, तथा इन तपोंका पता दूसरे लोगोंको भी लग जाता है इसलिए इन्हें बाह्य तप कहते हैं।

शङ्का—परीषहमें और कायक्लेश तपमें क्या अन्तर है?

समाधान—कायक्लेश स्वयं किया जाता है और परीषह अचानक आ जाती है॥ १६॥

अब अभ्यन्तर तपके भेद कहते हैं—

प्रायश्चित्त-विनय-वैयावृत्य-स्वाध्याय-व्युत्सर्ग-ध्यानान्युत्तरम् ॥२०॥

अर्थ—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान, ये छै अभ्यन्तर तप हैं। ये तप मनको वशमें करनेके लिए किये जाते हैं इसलिए इन्हें अभ्यन्तर तप कहते हैं। प्रमादसे लगे हुए दोषोंको दूर करना प्रायश्चित्त तप है। पूज्य पुरुषोंका आदर करना विनय तप है। शरीर वगैरहके द्वारा सेवा सुश्रूषा करनेको वैयावृत्य कहते हैं। आलस्य त्याग कर ज्ञानका आराधन करना स्वाध्याय है। ममत्वके त्यागको व्युत्सर्ग कहते हैं। और चित्तकी चंचलताके दूर करनेको ध्यान कहते हैं॥ २०॥

इसके बाद इन अभ्यन्तर तपोंके उप-भेदोंकी संख्या कहते हैं—

नव-चतुर्दश-पंच-द्विभेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥२१॥

अर्थ—प्रायश्चित्तके नौ भेद हैं। विनयके चार भेद हैं। वैयावृत्यके दस भेद हैं। स्वाध्यायके पांच भेद हैं और व्युत्सर्गके दो भेद हैं। इस तरह ध्यानसे पहले पांच प्रकारके तपोंके ये भेद हैं॥ २१॥

अब प्रायश्चित्तके नौ भेद कहते हैं—

आलोचना-प्रतिक्रमण-तदुभय-विवेक-व्युत्सर्ग-तप-च्छेद-परिहारोपस्थापनाः ॥२२॥

अर्थ—आलोचन, प्रतिक्रमण, तदुभय यानी आलोचन और प्रतिक्रमण दोनों, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, च्छेद, परिहार और उपस्थापना, ये नौ भेद प्रायश्चित्तके हैं।

गुरुसे अपने प्रमादको निवेदन करनेका नाम आलोचना है। वह आलोचना दस दोषोंको बचाकर करनी चाहिये। [वे दोष इस प्रकार हैं—आचार्य अपने ऊपर दया करके थोड़ा प्रायश्चित्त दें, इस भावसे आचार्यको पीछी कमण्डलु आदि भेंट करके दोषका निवेदन करना आकम्पित दोष है। गुरुकी बातचीतसे प्रायश्चित्तका अनुमान लगाकर दोषका निवेदन करना अनुमापित दोष है। जो दोष किसीने करते नहीं देखा उसे छिपा जाना और जो दोष करते देख लिया उसे गुरुसे निवेदन करना दृष्ट दोष है। केवल स्थूल दोषका निवेदन करना बादर दोष है। महान् प्रायश्चित्तके भयसे महान् दोषको छिपा लेना और छोटे दोषका निवेदन करना सूक्ष्म दोष है। दोष निवेदन करनेसे पहले गुरुसे पूछना कि महाराज ! यदि कोई ऐसा दोष करे तो उसका क्या प्रायश्चित्त होता है, यह छन्न दोष है। प्रतिक्रमणके दिन जब बहुतसे साधु एकत्र हुए हों और खूब हल्ला हो रहा हो उस समय दोषका निवेदन करना, जिससे कोई सुन न सके, शब्दाकुलित दोष है। गुरुने जो प्रायश्चित्त दिया है वह उचित है या नहीं, ऐसी आशंकासे अन्य साधुओंसे पूछना बहुजन नामका दोष है। गुरुसे दोष न कहकर अपने सहयोगी अन्य साधुओंसे अपना दोष कहना अव्यक्त नामका दोष है। और गुरुसे प्रमादका निवेदन न करके, जिस साधुने अपने समान अपराध किया हो उससे जाकर पूछना

कि तुझे गुरुने क्या प्रायचित्त दिया है, क्योंकि तेरे समान ही मेरा भी अपराध है जो प्रायश्चित्त तुझे दिया है वही मेरे लिए भी युक्त है, यह तत्सेवी नामका दोष है। इस तरह दस दोष रहित प्रमादका निवेदन करना आलोचना प्रायश्चित्त है]।

प्रमादसे जो दोष मुझसे हुआ वह मिथ्या हो इस तरह अपने किये हुए दोषके विरुद्ध अपनी मानसिक प्रतिक्रियाको प्रकट करना प्रतिक्रमण है। कोई अपराध तो केवल आलोचनासे ही शुद्ध हो जाता है कोई प्रतिक्रमणसे शुद्ध होता है और कोई आलोचना और प्रतिक्रमण दोनोंसे शुद्ध होता है यही तदुभय प्रायश्चित्त है। सदोष आहार तथा उपकरणोंका संसर्ग होनेपर उसका त्याग करना विवेक प्रायश्चित्त है। कुछ समयके लिए कायोत्सर्ग करना व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है। अनशन आदि करना तप प्रायश्चित्त है। दीक्षाके समयको छेद देना, जैसे कोई बीस वर्षका दीक्षित साधु है, अपराध करनेके कारण उसकी दस वर्षकी दीक्षा छेद दी गयी अतः अब वह दस वर्षका दीक्षित माना जायेगा और जो दस वर्षसे एक दिन अधिकके भी दीक्षित साधु हैं उन्हें इसे नमस्कार आदि करना होगा। यह छेद प्रायश्चित्त है। कुछ समयके लिए संघसे निकाल देना परिहार प्रायश्चित्त है। और पुरानी दीक्षाको छेदकर फिरसे दीक्षा देना उपस्थापना प्रायश्चित्त है ॥२२॥

अब विनय तपके भेद कहते हैं—

ज्ञान-दर्शन-चारित्रोपचाराः ॥२३॥

अर्थ—ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय और उपचार विनय, ये चार भेद विनयके हैं। आलस्य त्यागकर आदरपूर्वक सम्यग्ज्ञानका ग्रहण करना, अभ्यास करना आदि ज्ञान विनय है। तत्त्वार्थका शङ्का आदि दोष रहित श्रद्धान करना दर्शनविनय है। अपने मनको चारित्रके पालनमें लगाना चारित्रविनय

है। और आचार्य आदि पूज्य पुरुषोंको देखकर उनके लिए उठना, सन्मुख जाकर हाथ जोड़कर वन्दना करना तथा परोक्षमें भी उन्हें नमस्कार करना, उनके गुणोंका स्मरण वगैरह करना, उनकी आज्ञाका पालन करना, ये सब उपचार विनय है ॥२३॥

अब वैयावृत्य तपके भेद कहते हैं—

आचार्योपाध्याय-तपस्वि-शैक्ष-ग्लान-गण-कुल-संघ-साधु-मनोज्ञानाम् ॥२४॥

अर्थ—आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ, इन दस प्रकारके साधुओंकी अपेक्षासे वैयावृत्यके दस भेद हैं। जिनके पास जाकर सब मुनि व्रताचरण करते हैं उन्हें आचार्य कहते हैं। जिनके पास जाकर मुनिगण शास्त्राभ्यास करते हैं उन्हें उपाध्याय कहते हैं। जो साधु बहुत व्रत उपवास आदि करते हैं उन्हें तपस्वी कहते हैं। जो साधु श्रुतका अभ्यास करते हैं उन्हें शैक्ष कहते हैं। रोगी साधुओंको ग्लान कहते हैं। वृद्ध मुनियोंकी परिपाटीमें जो मुनि होते हैं उन्हें गण कहते हैं। दीक्षा देनेवाले आचार्यकी शिष्य परम्पराको कुल कहते हैं। ऋषि, यति, मुनि और अनगारके भेदसे चार प्रकारके साधुओं-के समूहको संघ कहते हैं। अथवा मुनि, आर्यिका और श्रावक श्राविकाके समूहको संघ कहते हैं। बहुत समयके दीक्षित मुनिको साधु कहते हैं। जिसका उपदेश लोकमान्य हो अथवा जो लोकमें पूज्य हो उस साधुको मनोज्ञ कहते हैं। इनको कोई व्याधि हो जाये या कोई उपसर्ग आ जाये या किसीका श्रद्धान विचलित होने लगे तो उसका प्रतीकार करना, यानी रोगका इलाज करना, संकट-को दूर करना, उपदेश आदिके द्वारा श्रद्धानको दृढ़ करना वैयावृत्य है ॥२४॥

अब स्वाध्याय तपके भेद कहते हैं—

वाचना-पृच्छनाऽनुप्रेक्षाम्नाय-धर्मोपदेशाः ॥२५॥

अर्थ—वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश, ये पांच स्वाध्यायके भेद हैं। धर्मके इच्छुक विनयशील पात्रोंको शास्त्र देना, शास्त्रका अर्थ बतलाना तथा शास्त्र भी देना और उसका अर्थ भी बतलाना वाचना है। संशयको दूर करनेके लिए अथवा निश्चय करनेके लिए विशिष्ट ज्ञानियोंसे प्रश्न करना पृच्छना है। जाने हुए अर्थका मनसे अभ्यास कराना अर्थात् उसका बार-बार विचार करना अनुप्रेक्षा है। शुद्धता पूर्वक पाठ करना आम्नाय है। धर्मका उपदेश करना धर्मोपदेश है। इस तरह स्वाध्यायके पांच भेद हैं। स्वाध्याय करनेसे ज्ञान बढ़ता है, वैराग्य बढ़ता है, तप बढ़ता है, व्रतोंमें अतिचार नहीं लगने पाता तथा स्वाध्यायसे बढ़कर दूसरा कोई सरल उपाय मनको स्थिर करनेका नहीं है। अतः स्वाध्याय करना हितकर है ॥ २५ ॥

अब व्युत्सर्ग तपके भेद कहते हैं—

बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ॥ २६ ॥

अर्थ—त्यागको व्युत्सर्ग कहते हैं। उसके दो भेद हैं—बाह्य उपधि त्याग और अभ्यन्तर उपधि त्याग। आत्मासे जुदे धन-धान्य वगैरहका त्याग करना बाह्य उपधि त्याग है और क्रोध मान माया आदि भावोंका त्याग करना अभ्यन्तर उपधि त्याग है। कुछ समयके लिए अथवा जीवन भरके लिए शरीरसे ममत्वका त्याग करना भी अभ्यन्तरोपधि त्याग ही कहा जाता है। इसके करनेसे मनुष्य निर्भय हो जाता है, वह हल्कापन अनुभव करता है तथा फिर जीवनकी तृष्णा उसे नहीं सताती ॥ २६ ॥

अब ध्यानका वर्णन करते हैं—

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ॥२७॥

अर्थ—उत्तम संहननके धारक मनुष्यका अपने चित्तकी वृत्तिको सब ओरसे रोककर एक ही विषयमें लगाना ध्यान है। यह ध्यान अधिकसे अधिक अन्तर्मुहूर्त तक ही होता है।

विशेषार्थ—आदिके तीन संहनन उत्तम हैं। वे ही ध्यानके कारण हैं। किन्तु उनमेंसे मोक्षका कारण एक वज्रवृषभ नाराच संहनन ही है। अन्य संहनन वालेका मन अन्तर्मुहूर्त भी एकाग्र नहीं रह सकता।

शङ्का—यदि ध्यान अन्तर्मुहूर्त तक ही हो सकता है तो आदि नाथ भगवानने छै मास तक ध्यान कैसे किया ?

समाधान—ध्यानकी सन्तानको भी ध्यान कहते हैं। अतः एक विषयमें लगातार ध्यान तो अन्तर्मुहूर्त तक ही होता है। उसके बाद ध्येय बदल जाता है। और ध्यानकी सन्तान चलती रहती है। अस्तु,

इस सूत्रमें तीन बातें बतलायी हैं—ध्याता, ध्यानका स्वरूप और ध्यानका काल। सो उत्तम संहननका धारी पुरुष तो ध्याता हो सकता है। एक पदार्थको लेकर उसीमें चित्तको स्थिर कर देना ध्यान है। जब विचारका विषय एक पदार्थ न हो कर नाना पदार्थ होते हैं तब वह विचार ज्ञान कहलाता है। और जब वह ज्ञान एक ही विषयमें स्थिर हो जाता है तब उसे ही ध्यान कहते हैं। उस ध्यानका काल अन्तर्मुहूर्त होता है ॥ २७ ॥

अब ध्यानके भेद कहते हैं—

आर्त-रौद्र-धर्म्य-शुक्लानि ॥ २८ ॥

अर्थ—ध्यानके चार भेद होते हैं—आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल।

इनमेंसे आदिके दो ध्यान अशुभ हैं, उनसे पापका बन्ध होता है। शेष दो ध्यान शुभ हैं उनके द्वारा कर्मोका नाश होता है ॥ २८ ॥

यही बात कहते हैं—

परे मोक्षहेतू ॥ २६ ॥

अर्थ—अन्तके धर्म्य और शुक्ल ध्यान मोक्षके कारण हैं। इससे यह मतलब निकला कि आदिके आर्त और रौद्र ध्यान संसारके कारण हैं ॥ २९ ॥

अब आर्तध्यानके भेद और उनके लक्षण कहते हैं—

आर्तममनोज्ञस्य सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृति-
समन्वाहारः ॥ ३० ॥

अर्थ—विष, कांटा, शत्रु, आदि अप्रिय वस्तुओंका समागम होनेपर उनसे अपना पीछा छुड़ानेके लिए बार बार चिन्तवन करना अनिष्ट-संयोग नामक आर्तध्यान है ॥ ३० ॥

दूसरा भेद कहते हैं—

विपरीतं मनोज्ञस्य॥३१॥

अर्थ—पुत्र, धन, स्त्री आदि प्रिय वस्तुओंका वियोग हो जाने पर उनसे मिलन होनेका वार वार चिन्तन करना इष्ट-वियोग नामक आर्तध्यान है ॥ ३१ ॥

तीसरा भेद कहते हैं—

वेदनायाश्च ॥ ३२ ॥

अर्थ—वात आदिके विकारसे शरीरमें कष्ट होनेपर रात दिन उसीकी चिन्ता करना वेदना नामक आर्तध्यान है ॥ ३२ ॥

निदानं च ॥ ३३ ॥

अर्थ—भोगोंकी तृष्णासे पीड़ित होकर रात दिन आगामी भोगोंको प्राप्त करनेकी ही चिन्ता करते रहना निदान आर्त ध्यान है। इस तरह आर्तध्यानके चार भेद हैं ॥ ३३ ॥

अब, आर्तध्यान किसको होता है, यह बतलाते हैं—

तदविरत-देशविरत-प्रमत्तसंयतानाम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—यह आर्तध्यान अविरत यानि पहले, दूसरे, तीसरे और चतुर्थ गुणस्थान वालोंके, देश विरत श्रावकोंके और प्रमत्तसंयत गुणस्थान वाले मुनियोंके होता है। परन्तु प्रमत्तसंयत गुणस्थानवाले मुनियोंके निदान नहीं होता। बाकीके तीन आर्तध्यान प्रमादके उदयसे जब कभी हो जाते हैं ॥ ३४ ॥

अब रौद्रध्यानके भेद और उनके स्वामियोंको बताते हैं—

हिंसानृत-स्तेय-विषय संरक्षणेभ्यो रौद्रमविरत-देशविरतयोः ॥ ३५ ॥

अर्थ—हिंसा, झूठ, चोरी और परिग्रह संचय करनेकी चिन्ता करते रहनेसे रौद्रध्यान होता है। यह रौद्रध्यान पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे गुणस्थानवालोंके तथा देशविरत श्रावकोंके होता है। किन्तु संयमी मुनिके नहीं होता; क्योंकि यदि कदाचित् मुनिको भी रौद्रध्यान हो जाये तो फिर वे संयमसे भ्रष्ट समझे जायेंगे।

शङ्का—जो व्रती नहीं हैं उनके रौद्रध्यान भले ही हो, किन्तु देशव्रती श्रावकके कैसे हो सकता है?

समाधान—श्रावकपर अपने धर्मायतनोंकी रक्षाका भार है,

स्त्री, धन वगैरहकी रक्षा करना उसे अभीष्ट है, अतः इनकी रक्षाके लिए जब कभी हिंसाके आवेशमें आ जानेसे रौद्रध्यान हो सकता है। किन्तु सम्यग्दृष्टि होनेके कारण उसके ऐसा रौद्रध्यान नहीं होता जो उसको नरकमें ले जाये ॥ ३५ ॥

अब धर्म ध्यानका स्वरूप बतलाते हैं-

आज्ञापाय-विपाक-संस्थानविचयाय धर्म्यम् ॥३६॥

अर्थ-आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय और संस्थान विचय, ये धर्म ध्यानके चार भेद हैं। अच्छे उपदेष्टाके न होनेसे, अपनी बुद्धिके मन्द होनेसे और पदार्थके सूक्ष्म होनेसे जब युक्ति और उदाहरणकी गति न हो तो ऐसी अवस्थामें सर्वज्ञ देवके द्वारा कहे गये आगमको प्रमाण मानकर गहन पदार्थका श्रद्धान कर लेना कि यह ऐसा ही है, आज्ञा विचय है। अथवा स्वयं तत्त्वोंका जानकार होते हुए भी दूसरोंको उन तत्त्वोंको समझानेके लिए युक्ति दृष्टान्त आदिका विचार करते रहना, जिससे दूसरोंको ठीक ठीक समझाया जा सके, आज्ञा विचय है; क्योंकि इसका उद्देश्य संसारमें जिनेन्द्र देवकी आज्ञाका प्रचार करना है। जो लोग मोक्षके अभिलाषी होते हुए भी कुमार्गमें पड़े हुए हैं उनका विचार करना कि कैसे वे मिथ्यात्वसे छूटें, इसे अपाय विचय कहते हैं। कर्मके फलका विचार करना विपाक विचय है। लोकके आकारका तथा उसकी दशाका विचार करना संस्थान विचय है। ये धर्म ध्यान अविरत, देश विरत, प्रमत्त संयत और अप्रमत्त संयत गुणस्थानवाले जीवोंके ही होते हैं ॥ ३६ ॥

अब शुक्ल ध्यानके स्वामी बतलाते हैं-

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥३७॥

अर्थ-आदिके दो शुक्ल ध्यान सकल श्रुतके धारक श्रुत केवलीके

होते हैं। 'च' शब्दसे धर्मध्यान भी ले लेना चाहिए। अतः श्रेणिपर चढ़नेसे पहले धर्मध्यान होता है और श्रेणी चढ़नेपर क्रमसे दोनों शुक्ल ध्यान होते हैं ॥ २७ ॥

अब बाकीके दो शुक्लध्यान किसके होते हैं, यह बतलाते हैं—

परे केवलिनः ॥३८॥

अर्थ—अन्तके दो शुक्लध्यान सयोग केवली और अयोग केवलीके होते हैं ॥ ३८ ॥

अब शुक्लध्यानके भेद बतलाते हैं—

पृथक्त्वैकत्ववितर्क-सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति-व्युपरत-क्रियानिवर्तीनि ॥३९॥

अर्थ—पृथक्त्ववितर्क, एकत्व वितर्क, सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति और व्युपरत क्रियानिवर्ति ये चार शुक्लध्यानके भेद हैं। ये सब नाम सार्थक हैं। इनका लक्षण आगे कहेंगे ॥ ३९ ॥

अब शुक्लध्यानका आलम्बन बतलाते हैं—

त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम् ॥४०॥

अर्थ—पहला शुक्लध्यान तीनों योगोंमें होता है। दूसरा शुक्लध्यान तीनों योगोंमें से एक योगमें होता है। तीसरा शुक्लध्यान काय योगमें ही होता है ॥ ४० ॥

अब आदिके दो शुक्लध्यानोंका विशेष कथन करते हैं—

एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ॥ ४१ ॥

अर्थ—आदिके दोनों शुक्लध्यान पूर्ण श्रुतज्ञानीके ही होते हैं अतः दोनोंका आधार एक ही है। तथा दोनों वितर्क और वीचारसे सहित हैं ॥ ४१ ॥

इस कथनमें थोड़ा अपवाद करते हैं—

अवीचारं द्वितीयम् ॥४२॥

अर्थ—किंतु दूसरा शुक्लध्यान वीचार रहित है। अर्थात् पहला शुक्लध्यान तो वितर्क और वीचार दोनोंसे सहित है। किंतु दूसरा शुक्लध्यान वितर्कसे सहित है पर वीचारसे रहित है॥ ४२॥

अव वितर्कका लक्षण कहते हैं—

वितर्कः श्रुतम् ॥४३॥

अर्थ—विशेष रूपसे तर्क अर्थात् विचार करनेको वितर्क कहते हैं। वितर्क नाम श्रुतज्ञानका है॥ ४३॥

अब वीचारका लक्षण कहते हैं—

वीचारोऽर्थ-व्यंजन-योगसंक्रान्तिः ॥४४॥

अर्थ—अर्थसे मतलव उस द्रव्य या पर्यायसे है जिसका ध्यान किया जाता है। व्यंजनका अर्थ वचन है और मन वचन कायकी क्रियाको योग कहते हैं। तथा संक्रान्तिका अर्थ परिवर्तन है। ध्यान करते समय द्रव्यको छोड़कर पर्यायका ध्यान करना और पर्यायको छोड़कर द्रव्यका ध्यान करना अर्थात् ध्यानके विषयका वदलना अर्थ संक्रान्ति है। श्रुतके किसी एक वाक्यको छोड़कर दूसरे वाक्यका सहारा लेना, उसे भी छोड़कर तीसरे वाक्यका सहारा लेना, इस तरह ध्यान करते समय वचनके वदलनेको व्यंजन संक्रान्ति कहते हैं। काययोगको छोड़कर अन्य योगका ग्रहण करना, उसे भी छोड़कर काययोगको ग्रहण करना योगसंक्रान्ति है। इन तीनों प्रकारकी संक्रान्तिको वीचार कहते हैं। और जिस ध्यानमें इस तरहका वीचार होता है वह वीचार सहित है और जिसमें यह वीचार नहीं होता वह वीचार रहित है।

विशेषार्थ—अभ्यस्त साधु ही इस चार प्रकारके शुक्ल ध्यानको संसारसे छूटनेके लिए ध्याते हैं। उसका विशेष खुलासा इस प्रकार है—सबसे प्रथम ध्यानके लिए ऐसा स्थान चुनना चाहिये जो एकदम एकान्त हो, जहां न मनुष्यका संचार हो, न सर्प, सिंह आदि पशुओंका उत्पात हो, जो न अति गरम हो और न अति शीतल, हवा और वर्षा की भी बाधा जहां न हो। सारांश यह है कि चित्तको चंचल करनेका कोई साधन जहां न हो, ऐसे स्थान पर किसी साफ सुथरी जमीनमें पल्यंकासन लगाकर अपने शरीरको सीधा रक्खे और अपनी गोदीमें बांए हाथकी हथेलीपर दाहिने हाथकी हथेली रक्खे। नेत्र न एम दम बन्द हों और न एकदम खुले हों। दृष्टि सौम्य और स्थिर हो। दांतसे दांत मिले हों। मुख थोड़ा उठा हुआ हो, प्रसन्न हो। श्वासोछ्वास मन्द मन्द चलता हो। ऐसी स्थितिमें मनको नाभिदेशमें, हृदयमें अथवा मस्तक वगैरहमें एकाग्र करके मुमुक्षुको शुभ ध्यान करना चाहिये। सो जब साधु सातवें गुणस्थानसे आठवें गुणस्थानमें जाता है तब द्रव्य परमाणु अथवा भाव परमाणुका ध्यान करता है। उस समय उसका मन ध्येयमें और वाक्यमें तथा काययोग और वचन योगमें घूमता रहता है। अर्थात् अर्थ, व्यंजन और योगकी संक्रान्ति रूप वीचार चलता रहता है। जैसे कोई बालक हाथमें ठूंठी तलवार लेकर उसे ऐसे उत्साहसे चलाता है मानों वृक्षको काटे डालता है वैसे ही वह ध्याता भी मोहनीय कर्मकी प्रकृतियोंका उपशम अथवा क्षय करता हुआ पृथक्त्व वितर्क वीचार नामके शुक्ल ध्यानको करता है। वही ध्याता जड़मूलसे मोहनीय कर्मको नष्ट करनेकी इच्छासे पहलेसे अनन्त गुना विशुद्ध ध्यानका आलम्बन लेकर, अर्थ व्यंजन और योगकी संक्रान्तिको हटाकर मनको निश्चल करके जब बारहवें गुणस्थानको प्राप्त होता है तो फिर ध्यान लगाकर पीछे नहीं हटता इसलिए उसे एकत्व वितर्क

वीचार ध्यानवाला कहते हैं। इस एकत्ववितर्क वीचार ध्यानरूपी अग्निके द्वारा घातिया कर्मरूपी ईंधनको जला देनेपर, जैसे मेघ पटलके हट जानेपर मेघोंमें छिपा हुआ सूर्य प्रकट होता है वैसे ही कर्मोंका आवरण हट जानेपर केवल ज्ञानरूपी सूर्य प्रकट हो जाता है। उस समय वह तीर्थंकर केवली अथवा सामान्य केवली होकर अपनी आयु पर्यन्त देशमें विहार करते हैं। जब आयु अन्तर्मुहूर्त बाकी रहती है और वेदनीय, नाम तथा गोत्रकर्मकी स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त ही शेष होती है तो वह समस्त वचन योग, मनोयोग और बादर काययोगको छोड़कर सूक्ष्म काययोगका आलम्बन लेकर सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाति ध्यानको करते हैं। किन्तु यदि आयु-कर्मकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त शेष हो और शेष तीन कर्मोंकी स्थिति अधिक हो तो केवली समुद्घात करते हैं। उसमें आठ समय लगते हैं। पहले समयमें आत्म प्रदेशोंको फैलाकर दण्डके आकार करते हैं, दूसरे समयमें कपाटके आकार करते हैं, तीसरे समयमें प्रतररूप करते हैं और चौथे समयमें अपने आत्म प्रदेशोंसे लोकको पूर देते हैं। पांचवे समयमें लोक पूरणसे प्रतररूप, छठेमें प्रतरसे कपाट रूप और सातवें समयमें कपाटसे दण्ड रूप करते हैं। आठवें समयमें बाहर निकले हुए आत्म प्रदेश फिर शरीरमें प्रविष्ट होकर ज्योंके त्यों हो जाते हैं। इस तरह चार समयमें प्रदेशोंका विस्तार और चार समयमें प्रदेशोंका संकोच करनेसे शेष तीन कर्मोंकी स्थिति भी आयुके समान अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाती है। उस समय वे सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति नामका तीसरा शुक्ल ध्यान करते हैं। इसके बाद समुच्छिन्न-क्रिया-निवर्ति नामका चौथा शुक्ल ध्यान करते हैं। इस ध्यानके समय श्वासोच्छ्वासका संचार, समस्त मनोयोग, वचनयोग, काययोग और समस्त प्रदेशोंका हलन चलन आदि क्रिया रुक जाती है। इसीलिए इसे समुच्छिन्न-क्रिया-

निवर्ति कहते हैं। इसके होनेपर समस्त बन्ध और आस्रव रुक जाता है और समस्त बचे हुए कर्मोंको नष्ट करनेकी शक्ति उत्पन्न हो जाती है। अतः मोक्षके साक्षात् कारण यथाख्यात चारित्र, दर्शन और ज्ञान पूर्ण हो जाते हैं। तब वह अयोग केवली समस्त कर्मोंको ध्यान रूपी अग्निसे, जलाकर किट्टकालिमासे रहित शुद्ध सुवर्णकी तरह निर्मल आत्म रूप होकर निर्वाणको प्राप्त करते हैं। इस तरह दोनों प्रकारका तप नवीन कर्मोंके आस्रवको रोकनेके कारण संवरका भी कारण है और पूर्वबद्ध कर्मोंको नष्ट करनेका कारण होनेसे निर्जराका भी कारण है ॥४४॥

आगे बतलाते हैं कि सब सम्यग्दृष्टियोंके समान निर्जरा नहीं होती—

सम्यग्दृष्टि-श्रावक-विरतानन्तवियोजक-दर्शनमोहक्षपकोपशम-कोपशान्तमोह-क्षपक-क्षीणमोह-जिनाः क्रमशोऽसंख्येय-गुणनिर्जराः ॥४५॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि, पंचम गुणस्थान-वर्ती श्रावक, महाव्रती मुनि, अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन करनेवाले, दर्शनमोहका क्षय करनेवाले, चारित्र मोहका उपशम करनेवाले, उपशान्तमोह यानी ग्यारहवें गुणस्थानवाले, क्षपक श्रेणी चढ़नेवाले, क्षीण-मोह यानी बारहवें गुणस्थानवाले और जिन भगवानके परिणामोंकी विशुद्धता अधिक अधिक होनेसे प्रति समय क्रमसे असंख्यात गुणी, असंख्यात गुणी निर्जरा होती है।

विशेषार्थ—जब मिथ्यादृष्टि जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करनेके लिए तीन करण करता है उस समय उसके आयुकर्मके सिवा शेष सात कर्मोंकी बहुत निर्जरा होती है। वह जब सम्य-ग्दृष्टि हो जाता है तो उसके पहलेसे भी असंख्यात गुनी निर्जरा

होती है। वह जब श्रावक हो जाता है तो उसके सम्यग्दृष्टिसे भी असंख्यात गुनी निर्जरा होती है। श्रावकसे जब वह सप्तम गुण-स्थानवर्ती मुनि हो जाता है तो उसके श्रावकसे भी असंख्यात गुनी निर्जरा होती है। जब वह मुनि होकर अनन्तानुबन्धी कषाय-को शेष कषाय रूप परिणमा कर उसका विसंयोजन करता है तो उसके मुनिसे भी असंख्यात गुनी निर्जरा होती है। उसके बाद जब वह दर्शन मोहनीय कर्मका क्षय करता है तो उसके विसं-योजन कालसे भी असंख्यात गुनी निर्जरा होती है। जब वह उपशम श्रेणी चढ़ता है तो उसके दर्शन मोह क्षपकसे भी असंख्यात गुनी निर्जरा होती है। उसके बाद जब वह समस्त मोहनीय कर्मका उपशम करके उपशान्त कषाय गुण स्थानवाला हो जाता है तो उसके उपशम अवस्थासे भी असंख्यात गुनी निर्जरा होती है। वही जीव जब उपशम श्रेणीसे गिरनेके बाद क्षपक श्रेणीपर चढ़ता है तो उसके ग्याहरवें गुण स्थानसे भी असंख्यात गुनी निर्जरा होती है। वही जब समस्त मोहनीय कर्मका क्षय करके क्षीण कषाय हो जाता है तो उसके क्षपक अवस्थासे भी असंख्यात गुनी निर्जरा होती है। वही जब समस्त घातिया कर्मोंको नष्ट करके केवली हो जाता है तो उसके क्षीण कषायसे भी असंख्यात गुनी निर्जरा होती है। सारांश यह है कि इन दस स्थानोंको प्राप्त होने वाले जीवोंके परिणाम उत्तरोत्तर अधिक अधिक विशुद्ध होते हैं अतः इनके कर्मोंकी निर्जरा भी असंख्यात गुनी होती है। इतना ही नहीं, जहाँ उत्तरोत्तर निर्जरा असंख्यात गुनी असंख्यात गुनी होती जाती है वहाँ निर्जराका काल असंख्यातवें भाग असंख्यातवें भाग घटता जाता है। जैसे, जिन भगवानके निर्जराका काल सबसे कम है उससे संख्यात गुना काल क्षीण कषायका है। इस तरह यद्यपि निर्जराका काल सातिशय मिथ्यादृष्टि तक अधिक अधिक

होता है किन्तु सामान्यसे प्रत्येकका निर्जरा काल अन्तर्मुहूर्त ही है। इस उत्तरोत्तर कम कम कालमें कर्मोंकी निर्जरा उत्तरोत्तर अधिक अधिक होती है॥ ४५ ॥

अब निर्ग्रन्थोंके भेद कहते हैं—

पुलाक-बकुश-कुशील-निर्ग्रन्थ-स्नातका निर्ग्रन्थाः ॥ ४६ ॥

अर्थ—पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक ये पांचों निर्ग्रन्थ कहे जाते हैं। जिनके उत्तर गुणोंकी तो भावना भी न हो और मूल गुणोंमें भी कभी कभी दोष लगा लेते हों उन साधुओंको पुलाक कहते हैं। पुलाक नाम पुवाल सहित चावलका है। पुवाल सहित चावलकी तरह मलिन होनेसे ऐसे साधुको पुलाक कहते हैं। जो बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहका त्याग करनेके लिए सदा तत्पर हों और जिनके मूल गुण निर्दोष हों किन्तु शरीर, पीछी वगैरह उपकरणोंसे जिन्हें मोह हो उन मुनिको बकुश मुनि कहते हैं। बकुशका अर्थ चितकबरा है। जैसे सफेदपर काले धब्बे होते हैं वैसे ही उन मुनियोंके निर्मल आचारमें शरीर आदिका मोह धब्बे-की तरह होता है। इसीसे वे बकुश कहे जाते हैं। कुशील साधुके दो भेद हैं—प्रतिसेवना-कुशील और कषाय-कुशील। जिनके मूल गुण और उत्तर गुण दोनों ही पूर्ण हों किन्तु कभी कभी उत्तर गुणोंमें दोष लग जाता हो उन साधुओंको प्रतिसेवना-कुशील कहते हैं। जिन्होंने अन्य कषायोंके उदयको तो वशमें कर लिया है किन्तु संज्वलन कषायके उदयको वशमें नहीं किया है उन साधुओंको कषाय-कुशील कहते हैं। जिनके मोहनीय कर्मका तो उदय हो नहीं है और शेष घातिकर्मोंका उदय भी ऐसा है जैसे जलमें लाठीसे खींची हुई लकीर। तथा अन्तर्मुहूर्तके बाद ही जिन्हें केवलज्ञान और केवल दर्शन प्रकट होनेवाला है उन्हें निर्ग्रन्थ कहते हैं। जिनके घातिकर्म नष्ट हो गये हैं उन केवलियोंको स्नातक कहते हैं। ये पांचों

ही सम्यग्दृष्टि होते हैं और बाह्य तथा अभ्यन्तर परिग्रहके त्यागी होते हैं। इसलिए चारित्रकी हीनाधिकता होनेपर भी इन पांचोंको ही निर्ग्रन्थ कहा है॥ ४६॥

इन पुलाक आदि मुनियोंकी और भी विशेषता बतलाते हैं—

संयम-श्रुत-प्रतिसेवना-तीर्थ-लिङ्ग-लेश्योपपाद-स्थान-विकल्पतः साध्याः ॥ ४७ ॥

अर्थ—संयम, श्रुत, प्रति सेवना, तीर्थ, लिङ्ग, लेश्या, उपपाद और स्थानके भेदसे पुलाक आदि मुनियोंमें भेद जानना चाहिये।

विशेषार्थ—पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना-कुशील मुनिके सामायिक और छेदोपस्थापना संयम होता है। कषाय-कुशील मुनिके सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्म-साम्पराय संयम होता है। निर्ग्रन्थ और स्नातकके एक यथाख्यात संयम ही होता है। पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना-कुशील मुनि अधिकसे अधिक पूरे दस पूर्वके ज्ञाता होते हैं। कषाय-कुशील और निग्रन्थ चौदह पूर्वोंके ज्ञाता होते हैं। और कमसे कम पुलाक मुनि आचारांगके ज्ञाता होते हैं, बकुश, कुशील और निर्ग्रन्थ पांच समिति और तीन गुप्तियोंके ज्ञाता होते हैं। स्नातक तो केवल ज्ञानी होते हैं अतः उनके श्रुताभ्यासका प्रश्न ही नहीं है। प्रतिसेवनाका मतलब व्रतोंमें दोष लगाना है। पुलाक मुनि पांच महाव्रतोंमें तथा रात्रिभोजन त्यागव्रतमेंसे किसी एकमें परवश होकर कभी कदाचित् दोष लगालेते हैं। बकुश मुनिके दो भेद हैं—उपकरण-बकुश और शरीर-बकुश। उपकरण-बकुश मुनिको सुन्दर उपकरणोंमें आसक्ति रहनेसे विराधना होती है। और शरीर-बकुश मुनिकी अपने शरीरमें आसक्ति होनेसे विराधना होती है। प्रतिसेवना-कुशील मुनि उत्तर गुणोंमें कभी कदाचित् दोष लगा लेते हैं। कषाय-कुशील

निर्ग्रन्थ और स्नातकके प्रतिसेवना नहीं होती; क्योंकि त्यागी हुई वस्तुका सेवन करनेसे प्रतिसेवना होती है। सो ये करते नहीं हैं। तीर्थ यानी सभी तीर्थङ्करोंके तीर्थमें पाँचों प्रकारके निर्ग्रन्थ पाये जाते है। लिंगके दो भेद हैं—द्रव्यलिंग और भावलिंग। भावलिंगकी अपेक्षा तो पाँचों ही निर्ग्रन्थ भावलिंगी हैं—क्योंकि सभी सम्यग्दृष्टि और संयमी होते हैं। द्रव्य लिंगकी अपेक्षा सभी निर्ग्रन्थ दिगम्बर होते हुए भी स्नातकके पीछी कमण्डलु उपकरण नहीं होते शेषके होते हैं। अतः द्रव्य लिंगमें थोड़ा अन्तर पड़ जाता है। पुलाकके तीन शुभ लेश्याएं ही होती हैं। वकुश और प्रति सेवना कुशीलके छै लेश्याएं भी होती है क्योंकि उपकरणोंमें आसक्ति होनेसे कभी अशुभ लेश्याएं भी हो सकती हैं। कषाय कुशीलके कृष्ण और नीलके सिवा बाकीकी चार लेश्याएं होती हैं। निर्ग्रन्थ और स्नातकके एक शुक्ल लेश्या ही होती है। अयोग केवलीके लेश्या नहीं होती। उपपाद—पुलाक मुनि अधिकसे अधिक सहस्रार स्वर्गमें उत्कृष्ट स्थितिके धारक देव होते हैं। वकुश और प्रतिसेवना कुशील बाईस सागरकी स्थितिवाले आरण और अच्युत स्वर्गमें उत्पन्न होते हैं। कषाय कुशील और ग्यारहवें गुणस्थानवाले निर्ग्रन्थ तेतीस सागरकी स्थितिवाले सर्वार्थसिद्धि विमानमें उत्पन्न होते हैं। इन सबकी उत्पत्ति कमसे कम सौधर्म कल्पमें होती है। और स्नातक तो मोक्ष जाता है। इसी तरह संयमके स्थानोंकी अपेक्षा भी इनमें अन्तर होता है॥ ४६॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे नवमोऽध्यायः॥ ९॥

卐

अथ दशमोऽध्यायः

अब अन्तिम तत्त्व मोक्षका कथन किया जाता है। किन्तु मोक्षकी प्राप्ति केवलज्ञान पूर्वक होती है अतः पहले केवलज्ञानकी उत्पत्तिका कारण बतलाते हैं—

मोहक्षयात् ज्ञान-दर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥ १ ॥

अर्थ—मोहनीय कर्मके क्षयसे और फिर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मका एक साथ क्षय होनेसे केवलज्ञान प्रकट होता है। सारांश यह है कि पहले मोहनीय कर्मको क्षय करके अन्तर्मुहूर्त तक क्षीण कषाय नामके गुणस्थानमें जीव रहता है। फिर उसके अन्तमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मको एक साथ नष्ट करके केवलज्ञानको प्राप्त कर लेता है। इसीसे 'मोहक्षयात्' पद अलग लिखा है ॥ १ ॥

अब मोक्षका लक्षण और मोक्षके कारण बतलाते हैं—

बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्स्न-कर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥२॥

अर्थ—बन्धके कारणोंका अभाव होनेसे तथा निर्जरासे समस्त कर्मोंका अत्यन्त अभाव हो जाना मोक्ष है।

विशेषार्थ—मिथ्यादर्शन आदि कारणोंका अभाव हो जानेसे नये कर्मोंका बन्ध होना रुक जाता है और तप वगैरहके द्वारा पहले बंधे हुए कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है। अतः आत्मा समस्त कर्म बन्धनोंसे छूट जाता है। इसीका नाम मोक्ष है। सो कर्मका अभाव दो प्रकारसे होता है। कुछ कर्म तो ऐसे हैं जिनका अभाव चरम शरीरीके स्वयं हो जाता है। जैसे नरकायु, तिर्यञ्चायु और

देवायुका सत्त्व चरम शरीरीके नहीं होता अतः इन तीन प्रकृतियोंका अभाव तो विना यत्नके ही रहता है। शेषके लिए प्रयत्न करना पड़ता है। सो चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें गुणस्थानमेंसे किसी एक गुणस्थानमें मोहनीय कर्मकी सात प्रकृतियोंका क्षय करके जीव क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है। उसके बाद क्षपक श्रेणीपर चढ़कर नौवें गुणस्थानमें क्रमसे १६ + ८ + १ + १ + ६ + १ + १ + १ + १ = ३६ छत्तीस प्रकृतियोंको नष्ट करके दसवें गुणस्थानमें आ जाता है। वहाँ सूक्ष्म लोभ संज्वलनको नष्ट करके बारहवें गुणस्थानमें जा पहुँचता है। बारहवेंमें ज्ञानावरणकी पाँच, दर्शनावरणकी ६ और अन्तरायकी ५ प्रकृतियोंको नष्ट करके केवली हो जाता है। इस तरह उसके ३ + ७ + ३६ + १ + १६ = ६३ तरेसठ प्रकृतियोंका अभाव हो जाता है जिनमें ४७ घाति कर्मोंकी और १६ अघाति कर्मोंकी प्रकृतियाँ हैं। शेष ८५ प्रकृतियाँ रहती हैं जिनमेंसे ७२ प्रकृतियोंका विनाश तो अयोग केवली नामक चौदहवें गुणस्थानके उपान्त्य समयमें करता है। १३ का विनाश उसीके अन्तिम समयमें करके मुक्त हो जाता है॥२॥

अब प्रश्न यह है कि पौद्गलिक द्रव्य कर्मोंके नाशसे ही मोक्ष होता है या भाव कर्मोंके नाशसे भी? इसका उत्तर देते हैं—

औपशमिकादिभव्यत्वानाञ्च ॥ ३ ॥

अर्थ—जीवके औपशमिक आदि भाव तथा पारिणामिक भावोंमें से भव्यत्व भावके अभावसे मोक्ष होता है। आशय यह है कि औपशमिक भाव, क्षायोपशमिक भाव, औदयिक भाव तो पूरे नष्ट हो जाते हैं और पारिणामिक भावोंमें से अभव्यत्व भाव तो मोक्ष गामी जीवके पहलेसे ही नहीं होता, जीवत्व नामका पारिणामिक भाव मुक्तावस्थामें भी रहता है। अतः केवल भव्यत्वका अभाव हो जाता है॥३॥

क्षायिक भाव शेष रहते हैं सो ही कहते हैं—

अन्यत्र केवल-सम्यक्त्व-ज्ञान-दर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥ ३४ ॥

अर्थ—क्षायिक सम्यक्त्व, केवल ज्ञान, केवल दर्शन और सिद्धत्वको छोड़कर अन्य भावोंका मुक्त जीवके अभाव हो जाता है।

[शङ्का—यदि मुक्त जीवके ये चार ही क्षायिक भाव शेष रहते हैं तो अनन्त वीर्य, अनन्त सुख आदि भावोंका भी अभाव कहलाया ?

समाधान—नहीं कहलाया; क्योंकि अनन्त वीर्य आदि भाव अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शनके अविनाभावी हैं। अर्थात् अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शनके साथ ही अनन्त वीर्य होता है। जहां अनन्त वीर्य नहीं होता वहां अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन भी नहीं होते। रहा अनन्त सुख, सो वह अनन्त ज्ञानमय ही है; क्योंकि बिना ज्ञानके सुखका अनुभव नहीं होता।

शङ्का—मुक्त जीवोंका कोई आकार नहीं है अतः उनका अभाव ही समझना चाहिये; क्योंकि जिस वस्तुका आकार नहीं वह वस्तु नहीं ?

समाधान—जिस शरीरसे जीव मुक्त होता है उस शरीरका जैसा आकार होता है वैसा ही मुक्त जीवका आकार रहता है।

शङ्का—यदि जीवका आकार शरीरके आकारके अनुसार ही होता है तो शरीरका अभाव हो जानेपर जीवको समस्त लोकाकाशमें फैल जाना चाहिये; क्योंकि उसका स्वाभाविक परिमाण तो लोकाकाशके प्रदेशोंके बराबर बतलाया है ?

समाधान—यह आपत्ति ठीक नहीं है; क्योंकि आत्माके प्रदेशोंमें संकोच और विस्तारका कारण नामकर्म था। नामकर्मके कारण जैसा शरीर मिलता था उसीके अनुसार आत्मप्रदेशोंमें

संकोच और विस्तार होता था। मुक्त होनेपर नामकर्मका अभाव हो जानेसे संकोच और विस्तारका भी अभाव हो गया] ॥ ४ ॥

शङ्का—यदि कारणका अभाव होनेसे मुक्त जीवमें संकोच विस्तार नहीं होता तो गमनका भी कोई कारण न होनेसे; जैसे मुक्त जीव नीचेको नहीं जाता या तिरछा नहीं जाता वैसे ही ऊपरको भी उसे नहीं जाना चाहिये, वल्कि जहां मुक्त हुआ है वहीं सदा उसे रहना चाहिये ?

इसका समाधान करनेके लिए आगेके सूत्र कहते हैं—

तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् ॥ ४ ॥

अर्थ—समस्त कर्मोंसे छूटनेके वाद ही जीव लोकके अन्त तक ऊपरको जाता है ॥ ५ ॥

अव ऊपरको जानेका कारण वतलाते हैं—

पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ॥६ ॥

अर्थ—पहलेके संस्कारसे, कर्मके भारसे हल्का हो जानेसे, कर्म बन्धनके कट जानेसे और ऊपरको जानेका स्वभाव होनेसे मुक्त जीव ऊपरको ही जाता है ॥ ६ ॥

इसमें दृष्टान्त देते हैं—

आविद्धकुलालचक्रवद् व्यपगतलेपालाम्बुवदेरण्ड
वीजवदग्निशिखावच्च ॥ ७ ॥

अर्थ—ऊपरके सूत्रमें कहे हुए हेतुओंको और इस सूत्रमें कहे गये दृष्टान्तोंको क्रमसे लगाना चाहिये। जो इस प्रकार है—जैसे कुम्हार हाथमें डण्डा लेकर और उसे चाकपर रखकर घुमाता है तो चाक घूमने लगता है। उसके वाद कुम्हार डण्डेको हटा लेता

है फिर भी चाक जब तक उसमें पुराना संस्कार रहता है, घूमता है। इसी तरह संसारी जीव मुक्तिकी प्राप्तिके लिए बार-बार प्रयत्न करता था कि कब मुक्ति गमन हो। मुक्त हो जानेपर वह भावना और प्रयत्न नहीं रहा फिर भी पुराने संस्कारवश जीव मुक्तिकी ओर गमन करता है। जैसे मिट्टीके भारसे लदी हुई तुम्बी जलमें डूबी रहती है। किन्तु मिट्टीका भार दूर होते ही जलके ऊपर आ जाती है। वैसे ही कर्मके भारसे लदा हुआ जीव कर्मके वश हो कर संसारमें डूबा रहता है। किन्तु ज्यों ही उस भारसे मुक्त होता है तो ऊपरको ही जाता है। जैसे एरण्डके बीज एरण्डके ढोडामें बन्द रहते हैं। और ढोडा सूखकर फटता है तो उछल कर ऊपरको ही जाते हैं। वैसे ही मनुष्य आदि भवोंमें ले जानेवाले गति नाम जाति नाम आदि समस्त कर्म बन्धके कट जानेपर आत्मा ऊपरको ही जाता है। जैसे वायुके न होनेपर दीपककी लौ ऊपरको ही जाती है वैसे ही मुक्त जीव भी अनेक गतियोंमें ले जानेवाले कर्मोंके अभावमें ऊपरको ही जाता है; क्योंकि जैसे आगका स्वभाव ऊपरको जानेका है वैसे ही जीवका स्वभाव भी ऊर्ध्व गमन ही है॥ ७॥

अब प्रश्न यह होता है कि जब जीवका स्वभाव ऊर्ध्व गमन है तो फिर मुक्त जीव लोकके अन्त तक ही क्यों जाता है? आगे क्यों नहीं जाता?

इस प्रश्नका समाधान करते हैं—

धर्मास्तिकायाभावात्॥ ८॥

अर्थ--गतिरूप उपकार करनेवाला धर्मास्तिकाय द्रव्य लोकके अन्त तक ही है, आगे नहीं है। अतः मुक्त जीव लोकके अन्त तक ही जाकर ठहर जाता है, आगे नहीं जाता॥ ८॥

अब मुक्त जीवोंमें परस्परमें भेद व्यवहारका कारण बतलाते हैं—

क्षेत्र-काल-गति-लिंग-तीर्थ-चारित्र-प्रत्येकबुद्ध-बोधित-ज्ञाना-वगाहनान्तर-संख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥ ६ ॥

अर्थ—क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येक बुद्ध, बोधित, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या और अल्पबहुत्व, इन बारह अनुयोगोंके द्वारा सिद्धोंमें भेदका विचार करना चाहिये।

विशेषार्थ—प्रत्युत्पन्ननय और भूतप्रज्ञापन नयकी विवक्षासे बारह अनुयोगोंका विवेचन किया जाता है। जो नय केवल वर्तमान पर्यायको ग्रहण करता है अथवा यथार्थ वस्तुस्वरूपको ग्रहण करता है उसे प्रत्युत्पन्न नय कहते हैं। जैसे ऋजुसूत्रनय या निश्चय नय। और जो नय अतीत पर्यायको ग्रहण करता है उसे भूत-प्रज्ञापन नय कहते हैं। जैसे व्यवहार नय। क्षेत्र-में इस बातका विचार किया जाता है कि मुक्त जीवकी मुक्ति किस क्षेत्रसे हुई। प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षासे सिद्धि क्षेत्रमें, अपने आत्म प्रदेशोंमें अथवा जिस आकाश प्रदेशोंमें मुक्त होनेवाला जीव मुक्तिसे पूर्व स्थित था उन आकाश प्रदेशोंमें मुक्ति होती है। भूत प्रज्ञापन नयकी अपेक्षा पन्द्रह कर्म भूमियोंमें उत्पन्न हुआ मनुष्य ही मुक्ति प्राप्त करता है। किन्तु पन्द्रह कर्म भूमियोंमेंसे किसी भी कर्मभूमिके मनुष्यको यदि कोई हर कर ले जाये तो समस्त मनुष्य लोकके किसी भी स्थानसे उसकी मुक्ति हो सकती है। काल-की अपेक्षा यह विचार किया जाता है कि किस कालमें मुक्ति हुई—सो प्रत्युपन्न नयकी अपेक्षा तो एक समयमें ही मुक्ति होती है। और भूतप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा सामान्यसे तो उत्सर्पिणी और अव-सर्पिणी दोनों ही कालोंमें मुक्ति होती है। विशेषसे अवसर्पिणी कालके सुखमा-दुखमा नामक तीसरे कालके अन्तमें जन्मे

जीव और दुषमा-सुषमा नामक चौथे कालमें जन्मे जीव मोक्ष जाते हैं। गति-में यह विचार किया जाता है कि किस गतिसे मुक्ति हुई ? सो प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा तो सिद्धि गतिमें ही मुक्ति मिलती है और भूतप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा मनुष्य गतिसे ही मुक्ति मिलती है। लिंग-में विचार किया जाता है कि किस लिंगसे मुक्ति हुई ? सो प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा तो वेद रहित अवस्थामें ही मुक्ति होती है। भूतप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा तीनों ही भाव वेदोंसे मुक्ति होती है किन्तु द्रव्यसे पुल्लिंग ही होना चाहिये। अथवा प्रत्युत्पन्न नयसे निर्ग्रंथ लिंगसे ही मुक्ति मिलती है और भूतप्रज्ञापन नयसे सग्रंथ लिंगसे भी मुक्ति होती है। तीर्थका विचार करते हैं—कोई तो तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। कोई सामान्य केवली होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। उनमें भी कोई तो तीर्थंकरके विद्यमान रहते हुए मोक्ष जाते हैं, कोई तीर्थंकरके अभावमें मोक्ष जाते हैं।—किस चारित्रसे मुक्ति मिलती है ? प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा तो जिस भावसे मुक्ति होती है उस भावको न तो चारित्र ही कहा जा सकता है और न अचारित्र ही कहा जा सकता है। और भूत-प्रज्ञापन नयकी अपेक्षा अव्यवहित रूपसे तो यथाख्यात चारित्रसे मोक्ष प्राप्त होता है और व्यवहित रूपसे सामायिक, छेदोपस्थापना, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात चारित्रसे मोक्ष प्राप्त होता है। और जिनके परिहार विशुद्धि चारित्र भी होता है उनको पांचों ही चारित्रोंसे मोक्ष प्राप्त होता है।—जो अपनी शक्तिसे ही ज्ञान प्राप्त करते हैं उन्हें प्रत्येक बुद्ध कहते हैं और-जो परके उपदेशसे ज्ञान प्राप्त करते हैं उन्हें बोधित बुद्ध कहते हैं। सो कोई प्रत्येक बुद्ध होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं और कोई बोधित बुद्ध होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं।—किस ज्ञानसे मुक्ति होती है ? प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा तो केवलज्ञानसे ही मुक्ति प्राप्त होती है। और भूतप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा किन्हींको मतिज्ञान और श्रुतज्ञानपूर्वक केवल ज्ञान होता

है और किन्हींको मति, श्रुत और अवधिज्ञानपूर्वक केवलज्ञान होता है। किन्हींको मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ज्ञानपूर्वक केवलज्ञान होता है तब मोक्ष जाते हैं।–आत्म प्रदेशोंके फैलावका नाम अवगाहना है। उत्कृष्ट अवगाहना पांच सौ पच्चीस धनुष होती है और जघन्य अवगाहना कुछ कम साढ़े तीन हाथ होती है। मध्यम अवगाहनाके बहुतसे भेद हैं। भूतप्रज्ञापन नयकी अपेक्षासे इन अवगाहनाओंमेंसे किसी एक अवगाहनासे मुक्ति प्राप्त होती है और प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा इससे कुछ कम अवगाहनासे मुक्ति होती है; क्योंकि मुक्त जीवकी अवगाहना उसके अन्तिम शरीरसे कुछ कम होती है। अन्तर–मुक्ति प्राप्त करनेवाले जीव लगातार भी मुक्ति प्राप्त करते हैं और बीच बीचमें अन्तर दे देकर भी मुक्ति प्राप्त करते हैं। यदि जीव लगातार मोक्ष जायें तो कमसे कम दो समय तक और अधिकसे अधिक आठ समय तक मुक्त होते रहते हैं। इसके बाद अन्तर पड़ जाता है। सो यदि कोई भी जीव मुक्त न हो तो कमसे कम एक समय और अधिकसे अधिक छै माहका अन्तर पड़ता है। संख्या—एक समयमें कमसे कम एक जीव मुक्त होता है और अधिकसे अधिक १०८ जीव मुक्त होते हैं। अल्पबहुत्व–क्षेत्र आदिकी अपेक्षासे जुदे जुदे मुक्त जीवोंकी संख्याको लेकर परस्परमें तुलना करना अल्प-बहुत्व है। सो बतलाते हैं—

प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षासे सब जीव सिद्धि क्षेत्रसे ही मुक्ति प्राप्त करते हैं अतः अल्पबहुत्व नहीं है। भूतप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा जो किसीके द्वारा हरे जाकर मुक्त हुए, ऐसे जीव थोड़े हैं। उनसे संख्यात गुने जन्म सिद्ध हैं। तथा ऊर्ध्व लोकसे मुक्त हुए जीव थोड़े हैं। उनसे असंख्यात गुने जीव अधोलोकसे मुक्त हुए हैं और उनसे भी असंख्यात गुने जीव मध्यलोकसे मुक्त हुए हैं। तथा समुद्रसे मुक्त हुए जीव सबसे कम हैं। उनसे संख्यात

गुने जीव द्वीपसे मुक्त हुए हैं। यह तो हुआ सामान्य कथन। विशेष कथनकी अपेक्षा लवण समुद्रसे मुक्त हुए जीव सबसे थोड़े हैं। उनसे संख्यात गुने जीव कालोदधि समुद्रसे मुक्त हुए हैं। उनसे संख्यात गुने जम्बूद्वीपसे मुक्त हुए हैं। उनसे संख्यातगुने धातकीखण्डसे मुक्त हुए हैं। उनसे संख्यातगुने पुष्करार्धसे मुक्त हुए हैं। यह क्षेत्रकी अपेक्षा अल्पबहुत्व हुआ। कालकी अपेक्षा-उत्सर्पिणी कालमें मुक्त हुए जीव सबसे थोड़े हैं। अवसर्पिणी कालमें मुक्त हुए जीव उनसे अधिक हैं। और बिना उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालमें मुक्त हुए जीव उनसे संख्यात गुने हैं; क्योंकि पांचों महाविदेहोंमें न उत्सर्पिणी काल है और न अवसर्पिणी काल है। फिर भी वहांसे जीव सदा मुक्त होते हैं। प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा एक समयमें ही मुक्ति होती है अतः अल्पबहुत्व नहीं है। गतिकी अपेक्षा—प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा तो अल्पबहुत्व नहीं है। भूतप्रज्ञापन नयसे तिर्यञ्च गतिसे आकर मनुष्य हो, मुक्त गये जीव सबसे थोड़े हैं। मनुष्य गतिसे आकर मनुष्य हो मुक्त हुए जीव उनसे संख्यात गुने हैं। नरक गतिसे आकर मनुष्य हो मुक्त गये जीव उनसे संख्यातगुने हैं। और देवगतिसे आकर मनुष्य हो मुक्त हुए जीव उनसे संख्यातगुने हैं। वेदकी अपेक्षा—प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा तो वेद रहित जीव ही मुक्ति प्राप्त करते हैं। अतः अल्पबहुत्व नहीं है। भूतप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा नपुंसक लिंगसे श्रेणि चढ़ कर मुक्त हुए जीव सबसे थोड़े हैं। स्त्री वेदसे श्रेणि चढ़ कर मुक्त हुए जीव उनसे संख्यातगुने हैं। और पुरुष वेदके उदयसे श्रेणि चढ़ कर मुक्त हुए जीव उनसे संख्यात गुने हैं। तीर्थकी अपेक्षा—तीर्थंकर होकर मुक्त हुए जीव थोड़े हैं। सामान्य केवली होकर मुक्त हुए जीव उनसे संख्यात गुने हैं। चारित्रकी अपेक्षा—प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा तो अल्पबहुत्व नहीं है। भूतग्राही नयकी अपेक्षा भी अन्यवहित चारित्र सबके

यथाख्यात ही होता है, अतः अल्पबहुत्व नहीं है। अन्तर सहित चारित्रकी अपेक्षा पांचो चारित्र धारण करके मुक्त हुए जीव सबसे थोड़े हैं और चार चारित्र धारण करके मुक्त हुए जीव उनसे संख्यातगुने हैं। प्रत्येक बुद्ध थोड़े होते हैं। बोधित बुद्ध उनसे संख्यातगुने हैं। ज्ञानकी अपेक्षा—प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा सब जीव केवल ज्ञान प्राप्त करके ही मुक्त होते हैं अतः अल्पबहुत्व नहीं है। भूतग्राही नयकी अपेक्षा दो ज्ञानसे मुक्त हुए जीव सबसे थोड़े हैं। चार ज्ञानसे मुक्त हुए जीव उनसे संख्यात गुने हैं। विशेष कथनकी अपेक्षा मति श्रुत और मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त करके मुक्त हुए जीव सबसे थोड़े हैं। मति, श्रुत ज्ञान प्राप्त करके मुक्त हुए जीव उनसे संख्यातगुने हैं। मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त करके मुक्त हुए जीव उनसे संख्यातगुने हैं। और मति श्रुत और अवधि ज्ञान प्राप्त करके मुक्त हुए जीव उनसे संख्यातगुने हैं। अवगाहना—जघन्य अवगाहनासे मुक्त हुए जीव थोड़े हैं। उत्कृष्ट अवगाहनासे मुक्त हुए जीव उनसे संख्यातगुने हैं। और मध्यम अवगाहनासे मुक्त हुए जीव उनसे संख्यातगुने हैं। संख्या—एक समयमें एक सौ आठकी संख्यामें मुक्त हुए जीव थोड़े हैं, एक समयमें एक सौ सातसे लेकर पचास तककी संख्यामें मुक्त हुए जीव उनसे अनन्त गुने हैं। एक समयमें उनचाससे लेकर पचीस तककी संख्यामें मुक्त हुए जीव असंख्यात गुने हैं। एक समयमें चौबीससे लेकर एक तककी संख्यामें मुक्त हुए जीव उनसे संख्यात गुने हैं। इस प्रकार मुक्त हुए जीवोंमें वर्तमानकी अपेक्षा तो कोई भेद नहीं है। जो भेद है वह भूत-पर्यायकी अपेक्षा ही है।

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे दशमोऽध्यायः ॥१० ॥

卐 समाप्त 卐

तत्त्वार्थ सूत्र

का

पारिभाषिक शब्दकोश*

* इस कोशमें बड़े, अंक पृष्ठके और छोटे अंक पंक्तिके सूचक हैं।

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
आत्म तो सूक्ष्मा	आत्मा तो सूक्ष्म	१४	२५
औपशयिक	औपशमिक	३२	५
स्पद्धकों	स्पर्द्धकों	३२	१६
उपमश	उपशम	३२	१८
,,	,,	,,	२४
कारण	करण	३४	१६

	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
काषायों	कषायों	३४	२०
जनना	जानना	३५	१६
अघातिया कर्म उदय	अघातिया कर्मके उदय	३८	१६
दशनोपयोग	दर्शनोपयोग	४०	११
पुद्गलोंको	पुद्गलोंका	४६	१
राहित	रहित	६०	१६
वालुका प्रभा धूमप्रभा	वालुका प्रभा, पंक प्रभा धूम प्रभा	६३	६
सुषम दुषमा काल आता है यह काल बयालीस	सुषम दुषमा काल आता है। यह काल दो कोड़ा कोड़ी सागर तक रहता है। इसके प्रारम्भमें मनुष्योंकी दशा हैमवत क्षेत्र भोगभूमिके समान रहती है। फिर क्रमसे हानि होते होते चौथा दुषम सुषमाकाल आता है। यह काल	१७	७७
प्रकोर्णक	प्रकीर्णक	६६	१६
सवा दो हाथ	अढ़ाई हाथ	६८	१३
अनन्तातन्त	अनन्तानन्त	१०६	१५
भवके	भावके	१२१	४
देखा या	देखा था	१२६	७
वार्गनसर्ग	वाग्निसर्ग	१४६	१६
करणोत्वरिका	करणोत्वरिका	१७२	१०
एकत्व वितर्क वीचार	एकत्व वितर्क	२२५	१

